

डॉ. सतीश चन्द्र मिश्र

राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में

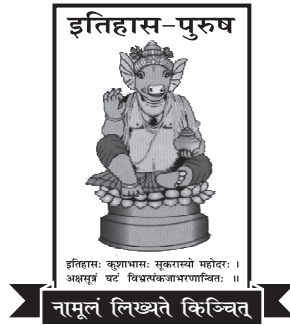
भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप

(प्रारम्भ से मुस्लिम-काल तक)



राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में
भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप
(प्रारम्भ से मुस्लिम-काल तक)

डॉ. सतीश चन्द्र मिश्र



प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना
नयी दिल्ली-110 055

RĀṢṬRĪYA CETANĀ KE PRAKĀS MEM
BHĀRATA MEM RĀṢṬRĪYATĀ KĀ SVARŪPA
(PRĀRAMBH SE MUSLIMA-KĀLA TAKA)
By Dr. Satish Chandra Mittal

Published by:
PUBLICATIONS DEPARTMENT
Akhila Bhāratiya Itihāsa Samkalana Yojanā
Baba Sahab Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj',
Jhandewalan, New Delhi-110 055
Ph.: 011-23675667
e-mail: abisy84@gmail.com

© Copyright : Publisher
First Edition : Kaliyugmbda 5115, i.e. 2013 CE
Laser Typesetting & Cover Design by:
Gunjan Aggrawala
Printed at: Graphic World, 1659 Dakhnisarai Street,
Dariyaganj, New Delhi-110055
Price: ₹ 400/-

ISBN : 978-93-82424-05-5

प्रकाशक :
प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना
बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव कुंज',
झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055
दूरभाष : 011-23675667
ई-मेल : abisy84@gmail.com

© सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन
प्रथम संस्करण : कलियुगाब्द 5115, सन् 2013 ईउ
लेज़र टाईपसेटिंग एवं आवरण-सज्जा : गुंजन अग्रवाल
मुद्रक : ग्राफिक वर्ल्ड, 1659, दखनीराय स्ट्रीट, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110 002

प्राक्कथन

यदि कोई विद्वान् अथवा इतिहासकार मुझसे भारत के सन्दर्भ में पूछे कि राष्ट्र, राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद क्या है तो यह मेरे लिए सचमुच आश्चर्य की बात होगी। निःसन्देह विश्व के प्राचीनतम भारत के ग्रन्थ ऋग्वेद से लेकर अन्य वैदिक ग्रन्थों, पुराणों, *रामायण*, *महाभारत* तथा विभिन्न संस्कृत-साहित्य में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। यदि कोई पाश्चात्य जगत् में 18-19वीं शताब्दियों से पूर्व राष्ट्रवाद की चर्चा करे तो अधिक आश्चर्य होगा और यदि इस्लाम मज़हब में राष्ट्रवाद ढूँढ़े, तो इससे भी अधिक आश्चर्य होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय-राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद की संकल्पना का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें भारत के अतीत से लेकर मुग़लों के शासन (1526-1707 ई.) तथा सार-रूप में सर्वेक्षण किया गया है। इसमें राष्ट्रीयता की भारतीय-अवधारणा, वैशिष्ट्य के साथ इसके क्रमिक विकास का वर्णन किया गया है। मातृभूमि के प्रति अटूट प्रेम तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के विभिन्न तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। साथ ही इसके सन्दर्भ में पाश्चात्य भ्रांतियों को भी स्पष्ट किया है। पुस्तक में समय-समय पर वैदेशिक आक्रमणों के साथ, इसकी अस्मिता के लिए किए गए अक्षुण्ण प्रयासों की चर्चा की गई है। प्रमाणों से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि इस्लाम मज़हब, राष्ट्रवाद को स्वीकार नहीं करता है, बल्कि इसे अपने प्रसार में सबसे बड़ी बाधा मानता है। जहाँ एक ओर पठानों तथा मुग़ल-शासकों द्वारा भारत में इस्लामीकरण तथा गुलामीकरण के प्रयास हुए, वहाँ राजा दाहिर, पृथ्वीराज चौहान, राणा सांगा, हेमचन्द्र विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, रानी दुर्गावती, शिवाजी तथा गुरु गोविन्द सिंह के भारतीय-जीवनमूल्यों की रक्षा के लिए सतत संघर्ष हुए। वामपंथियों ने भ्रम फैलाने के लिए जहाँ बाबर, अकबर, औरंगज़ेब को 'राष्ट्रीय शासक' कहा, वहाँ

हेमचन्द्र विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरु गोविन्द के राष्ट्रगत विचारों तथा प्रयासों की अवहेलनाकर, उनके स्वतन्त्रता के लिए किए गए प्रयत्नों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में उनके कपोल-कल्पित कथनों की आलोचना की गई है। अन्त में मुस्लिम-शासन के लम्बे कालखण्ड में, हिंदुओं द्वारा प्रस्थापित भक्ति-आन्दोलन तथा इसमें सम्मिलित अनेक सन्तों, भक्तों, सुधारकों की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए लेखक उन सभी श्रेष्ठ विद्वानों, विचारकों, लेखकों तथा इतिहासकारों का कृतज्ञ है जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके लेखन में सहायता दी। उपर्युक्त रचना के लिए मैं, श्री बालमुकन्द (राष्ट्रीय संगठन-सचिव, अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना) का विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इस लघु ग्रन्थ को लिखने के लिए सतत आग्रह तथा प्रोत्साहन दिया। पुस्तक के लेखन में सहयोग के लिए मैं अपने प्रिय पुत्र चिन्मय आशीष मित्तल का भी आभारी हूँ। लेखक पुस्तक की अशुद्धियों के सुधार तथा इसको परिमार्जित करने तथा सुन्दर बनाने के लिए श्री गुंजन अग्रवाल (सह-संपादक, 'इतिहास दर्पण') का आभारी है।

आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ देश की युवा पीढ़ी को, भारतीय-राष्ट्रीय संकल्पना को समझाने में सहायक होगा ताकि हमारा देश भारत एक सशक्त, सबल, सुदृढ़ तथा समृद्ध हो सके।

—सतीश चन्द्र मित्तल

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ-संख्या
प्राकथन	i-ii
अध्याय एक : भारतीय-राष्ट्रीय चिन्तन के मूल तत्त्व	1
अध्याय दो : प्राचीन काल में भारतीय-राष्ट्रीयता का विकास	34
अध्याय तीन : भारत में मुस्लिम-शासन तथा राष्ट्रीयता	81
अध्याय चार : भक्ति-आन्दोलन : एक महान् राष्ट्रीय जागरण	134
उपसंहार	168
सन्दर्भ-सूची	174
लेखक-परिचय	

राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप (प्रारम्भ से मुस्लिम-काल तक)

अध्याय-एक भारतीय-राष्ट्रीय चिन्तन के मूल तत्त्व

राष्ट्र, राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद विश्व के इतिहास में जाने-पहचाने शब्द हैं। जहाँ भारतीय-चिन्तन में इसकी संकल्पना प्राचीनतम है, वहाँ पाश्चात्य जगत् में इसका चिन्तन 18वीं तथा 19वीं शताब्दी की देन है। एक का आधार मूलतः सांस्कृतिक है, दूसरे का राजनीतिक है। स्वाभाविक है कि दोनों की अवधारणा तथा विकास का क्रम भिन्न रहा है।

भारत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसे जानने के लिए इसके अर्थ, प्रकृति, व्यापकता तथा इसके आवश्यक तत्त्वों को जानना आवश्यक होगा। इससे संबंधित अनेक प्रश्न हैं। राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद क्या है? क्या यह कोई प्राचीन अवधारणा अथवा आधुनिक विचार है? इसका विभिन्न देशों में, विभिन्न कालों में क्या स्वरूप रहा? क्या यह भावात्मक अभिव्यक्ति, वर्तमान वैश्विक चिन्तन में बाधा तो नहीं है?

सामान्य अर्थों में देश एक भौगोलिक इकाई, राज्य एक राजनीतिक रचना तथा राष्ट्र एक भावात्मक अभिव्यक्ति है। देश में इसकी भौगोलिक सीमाएँ होती हैं। राज्य में क्षेत्र, जनसंख्या, एक निश्चित सरकार तथा प्रभुसत्ता होती है। राष्ट्र मानव की उन भावनाओं का प्रतीक है जिससे वह अपने अतीत से जुड़ा रहता है, वर्तमान में वास करता है, भविष्य की आकांक्षा तथा कल्पना को संजोता है। अतः वह किसी भी देश या राज्य में अपने अतीत, वर्तमान तथा भविष्य से जुड़ा है। इसमें उसके अपने महान् पुरुषों, वर्तमान के व्यक्तिगत पूर्वजों तथा आगामी आनेवाली पीढ़ियाँ आती हैं। अतः राष्ट्रवाद भावात्मक, रागात्मक तथा समर्पण भाव का एक अटूट संबंध है।

राष्ट्रवाद का अर्थ

राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीयता-संबंधी विचार पर पाश्चात्य विचारकों तथा भारतीय-तत्त्ववेत्ताओं ने समय-समय पर इसके अर्थ तथा भाव को प्रकट किया है। आधुनिक भारत की राष्ट्रीयता-विषयक अवधारणाएँ मुख्यतः पाश्चात्य चिन्तन से प्रभावित हैं। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में दिया है,¹ 'राष्ट्रीयता एक मनोदशा है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति उच्चतम भक्ति अनुभव करता है।' ब्रिटेन के प्रसिद्ध विद्वान् होन्स कोहन (1891-1971) ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा,² 'राष्ट्रीयता एक विचार है, एक विचार-शक्ति है जो मनुष्य के मस्तिष्क तथा हृदय को नये विचारों और मनोभाव से भर देता है और उसकी चेतना को संगठितकर तथा कार्यों में परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करता है।' इसी भाँति *इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेज़*³ में भी इसका विवेचन करते हुए बतलाया गया, 'एक विशिष्ट—अधिक व्यापक अर्थ में राष्ट्रीयता वह प्रकृति है जो जीवन के मूल्यों तारतम्य में राष्ट्रीय व्यक्तित्व को एक उच्च स्थान प्रदान करती है।'।

भारत के प्राचीन साहित्य में राष्ट्रवाद का महती यशोगान किया गया है। इसे मातृभूमि के सम्मान तथा सुरक्षा के लिए सबकुछ अर्पित करने की, सदैव तत्पर भावना बतलाया गया है। इसे भूमि से सर्वोच्च तथा भावात्मक संबंध बताया गया है। वैदिक तथा उत्तरवर्ती साहित्य में इसपर बल दिया गया है। इसे राष्ट्र या देश की आत्मा बतलाया गया है। भारत का राष्ट्रीय जीवन सहस्रों राष्ट्रपुरुषों के कर्म, तप और यज्ञ के कारण सदा जीवमान और सदाप्रवाही रहा।

*विष्णुमहापुराण*⁴ में देशप्रेम एवं भारत-भक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

‘गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥’

अतः युगों-युगों से यही भावना बार-बार भारत के अनेक ऋषियों,

1. *इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका*, भाग 16, पृ 60; भाग 12, पृ 851

2. होन्स कोहन, *द आइडिया ऑफ़ नेशनलिज्म* (न्यूयार्क, 1938 संस्करण)

3. *इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेज़*, भाग 12, पृ 231

4. *विष्णुमहापुराण*, 2.3.24

मुनियों, चिन्तकों, लेखकों, सुधारकों, सन्तों तथा भक्तों ने व्यक्त की है। वस्तुतः राष्ट्रवाद का यह यशोगान, यह श्रद्धापूर्ण जिज्ञासा अनेक ग्रन्थों में व्यक्त की गई है। *महाभारत*¹ में युधिष्ठिर, भीष्म के पास जाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं तथा राष्ट्र की रक्षा तथा वृद्धि के लिए क्या उपयोगी है, पूछते हैं। इसके उत्तर में भीष्म पितामह करते हैं, “युद्ध में प्राणों की बलि का अवसर आने पर जिस राष्ट्र का ऐसा निश्चय हो जाता है कि इसके संरक्षण या देश की रक्षा करके रहूँगा, उसे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।”

आधुनिक काल में भारत के श्रेष्ठ महापुरुषों ने राष्ट्र तथा राष्ट्रियता को बड़ा महत्त्व दिया है। स्वामी विवेकानन्द (1863-1902), लोकमान्य तिलक (1856-1920), महर्षि अरविन्द (1872-1950), बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (1838-1894) — सभी ने राष्ट्रियता की भावना को सर्वोत्तम तथा उच्चतम बतलाया है। स्वामी विवेकानन्द² ने भारत की राष्ट्रीय आत्मा धर्म को बतलाया है। लोकमान्य तिलक³ ने धर्म को ऊँचा स्थान दिया और राष्ट्र का ईश्वर के साथ एकात्म संबंध स्थापित किया। उनका कथन है कि ईश्वर तथा हमारा देश एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। संक्षेप में हमारा देश ईश्वर का ही एक रूप है। महर्षि अरविन्द⁴ ने सन् 1909 में उत्तरपाड़ा (ज़िला : हुगली, पृ. बंगाल) में दिए अपने प्रसिद्ध भाषण में राष्ट्रियता की व्याख्या करते हुए कहा है, “राष्ट्रियता, राजनीति नहीं, बल्कि एक धर्म है। एक विश्वास है, एक निष्ठा है, सनातन धर्म ही, मेरे लिये राष्ट्रियता है।”

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा,⁵ “राष्ट्रवाद एक धर्म है जो भगवान्

की देन है। राष्ट्रवाद एक सिद्धान्त है जिसे आधारित करता है..... राष्ट्रवाद की शक्ति भगवान् की शक्ति है राष्ट्रवाद अमर है, वह मर नहीं सकता। भगवान् मारे नहीं जा सकते। भगवान् को बन्दी नहीं बनाया जा सकता।”

श्रीअरविन्द ने राष्ट्रियता एवं मातृभूमि के प्रति सामञ्जस्य की भावना व्यक्त करते हुए ‘भवानी मन्दिर’ में कहा,⁶ ‘राष्ट्र क्या है? हमारी मातृभूमि क्या है? यह कोई भूमि का टुकड़ा, भाषा का अलंकार या मन की कहानी नहीं है। जैसे महिषासुरमर्दिनी का प्रादुर्भाव करोड़ों देवताओं की शक्ति के मिलने से हुआ था, उसी तरह भारतमाता एक शक्ति है जो करोड़ों देशवासियों से मिलकर बनी है, जिस शक्ति को हम भारतवर्ष या भवानी भारती कहते हैं, यह भारत के समस्त लोगों की जीवित जागृत शक्ति है।’ अपनी पत्नी मृणालिनी को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, ‘अन्य लोग स्वदेश को जड़ पदार्थ, कुछ खेत, वन, पर्वत, नदी भर मानते हैं, लेकिन मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, इसकी भक्ति और पूजा करता हूँ।’

अतः श्रीअरविन्द ने राष्ट्रियता को एक धर्म, भगवान् की शक्ति तथा भारतमाता के रूप में देखा। उन्होंने इसी भक्ति और शक्ति से राष्ट्रियता को चित्रित किया।

श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने राष्ट्रवाद की व्याख्या सर्वोत्तम धर्म के रूप में की। उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास ‘आनन्द मठ’ में ‘वन्देमातरम्’ को राष्ट्रीय मन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया।

वर्तमान काल में भारत के महान् चिन्तक श्री माधवराव सदाशिवराव गोळवलकर (श्री गुरुजी : 1906-1973)⁷ ने राष्ट्रियता का आधार, राष्ट्र को एक सावयव प्रकृति तथा सांस्कृतिक आधार बतालाया है। उनके अनुसार राष्ट्र में एक भौगोलिक एकता, समान अनुभव, समान ऐतिहासिक विकास तथा समान जीवन-मूल्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

-
1. महाभारत, शान्तिपर्व
 2. स्वामी विवेकानन्द, द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ़ स्वामी विवेकानन्द, भाग 5 (कोलकाता, 1989), पृ. 461; सतीश चन्द्र मित्तल, भारतीय राष्ट्र-चिन्तकों का वैचारिक दर्शन तथा इतिहास-दृष्टि, पृ. 59-70
 3. विस्तार के लिए देखें, धनंजय कीर, लोकमान्य तिलक : फादर ऑफ़ अवर फ्रीडम स्ट्रगल (मुम्बई, 1959)
 4. श्रीअरविन्द, सनातन धर्म, उत्तरपाड़ा स्पीच (पाण्डिचेरी, 1972), पृ. 14
 5. श्रीअरविन्द, स्पीचेज (पाण्डिचेरी, 1952); धर्म और जातीयता (बनारस, 1934) : शिव कुमार गोयल, श्रीअरविन्दोज़ इन्टीग्रल अप्रोच टू पालिटिकल थॉट (नयी दिल्ली, 1981), पृ. 182-185

-
1. श्रीअरविन्द स्पीचेज
 2. एमृ एलु पण्डित, श्रीअरविन्द (नयी दिल्ली, 1985) देखें, मृणालिनी को पत्र
 3. श्याम खोसला एवं वी. के. कुथियाल (सं.) हिंदू नेशनलिज्म : ए कन्टम्परेरी पर्सपेक्टिव (देखें, लेख, डॉ. मुरली मनोहर जोशी, ‘नेशनल आइडेन्टीज़ एण्ड श्री गुरुजी’ (चण्डीगढ़, 2009), पृ. 19-35

भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई (1896-1995)¹ के अनुसार राष्ट्र का हित ही राष्ट्रीयता है, जो बात राष्ट्र के खिलाफ़ है, वह राष्ट्रीयता नहीं है।

आधुनिक भारत के प्रसिद्ध इतिहासकारों, समाजशास्त्र के ज्ञाताओं ने राष्ट्रीयता पर गम्भीर चिन्तन तथा इसका विशद वर्णन किया है। डॉ सत्यनारायण दूबे के विचार को निष्कर्ष रूप में देना अनुचित न होगा। उसके शब्दों में, 'राष्ट्र के हित में प्रधानता और प्राथमिकता ही राष्ट्रीयता है,'² 'राष्ट्रीयता एक विशिष्ट प्रकार का मनोभाव है, एक आध्यात्मिक भावना है, जिसका केन्द्र वह जनसमुदाय होता है जिसे राष्ट्र कहते हैं।'³ 'राष्ट्रीयता की भावना में मातृभूमि, पितृभूमि, जन्मभूमि का महत्वपूर्ण स्थान है।'⁴

डॉ दूबे का पुनः कथन है कि 'राष्ट्रीयता कोई सुषुप्त भावना नहीं है। यह एक अत्यन्त गतिशील, सक्रिय और उत्तेजक भावना ही है और लोगों की राष्ट्र की समृद्धि के लिए संगठित रूप में प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है।'⁵ संक्षेप में, राष्ट्र सर्वोपरि है, इन अक्षरों में राष्ट्रीयता का सार निहित है।'⁶

अतः संक्षेप में राष्ट्रीयता के बारे में यह कहना उचित होगा कि आधुनिक युग में मनुष्य जाति को इस मनोभाव ने जितना प्रभावित और अनुप्राणित किया है, उतना शायद ही किसी अन्य भाव अथवा आदर्श ने किया है।

यूरोप में राष्ट्रवाद का स्वरूप

यूरोपीय-जगत् में राष्ट्रवाद मुख्यतः एक राजनीतिक विचार है जो सामान्यतः राष्ट्र तथा राज्य में ज्यादा अन्तर नहीं मानता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों की संकल्पना विभिन्न देशों में विभिन्न समयों तथा परिस्थितियों में हुई। ज्यादातर राज्यों का निर्माण युद्धों का परिणाम रहा।

1. *पाञ्चजन्य*, 31 जनवरी, 1993

2. डॉ सत्यनारायण दूबे, *आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ* (संशोधित संस्करण, 1989), पृ 335

3. *वही*, पृ 335

4. *वही*, पृ 329

5. *वही*, पृ 339

6. *वही*, पृ 335

'नेशन' लैटिन-शब्द 'नाट्यो' (nātiō = natio) से व्युत्पन्न माना जाता है। सामान्यतः इसका अर्थ जन्म से जुड़ा है।¹ अर्थात् इसका शाब्दिक अर्थ एक सामाजिक समूह से है जो रक्त-संबंध से जुड़े हैं। वस्तुतः राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद, जन, देश के अर्थ तथा प्रयोग भी भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। इसकी निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। इसे नगर-राज्यों के बृहत्तर स्वरूप के रूप में जाना जाता है।

पाश्चात्य जगत् में समाज का निर्माण क्रमशः तीन ऐतिहासिक कालखण्डों में बाँटा गया है, ये हैं— पहला काल प्रारम्भ से 500 ई तक, दूसरा काल 500 ई से 1500 ई तक तथा तीसरा काल 1500 ई से वर्तमान तक। इसे प्रीमिटिव-युग, मध्ययुग तथा आधुनिक युग भी कहा गया है। कुछ यूरोपीय विद्वानों के अनुसार, यूरोप में आधुनिक अर्थों में राष्ट्र का निर्माण उत्तर-मध्ययुग में हुआ। जबकि उनमें प्रीमिटिव-युग की भावनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ, जो मानव-स्वभाव में हैं, विद्यमान रही। आधुनिक काल में धीरे-धीरे राजनीतिक संगठन को विकसित करने की अवधारणाएँ बन गई थीं।²

पन्द्रहवीं तथा 16वीं शताब्दी के पुनर्जागरण तथा सुधार-आन्दोलनों ने इसे गति दी। यद्यपि ब्रिटिश-इतिहासकार प्रो एफू एमू पोविक (1879-1963) ने इस भावना का निर्माण 1204 ई में नार्मण्डी की हानि से बताया, जिसमें यह कहा गया है कि नार्मण्डी के कुलीन या तो द्वीपों को छोड़ दें; यदि वे इंग्लैण्ड जाना चाहते हैं, या नार्मण्डी रहना चाहते हैं तो इंग्लैण्ड छोड़ दें।³ धीरे-धीरे अनेक तत्त्वों⁴ जैसे— समान भाषा, साहित्य, क़ानून, प्रतिनिधि-सरकार, युद्ध, विदेशी व्यापार आदि ने राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन दिया।

पाश्चात्य जगत् में इंग्लैण्ड अपने को आधुनिक राष्ट्रवाद का मूल प्रारम्भकर्ता मानता है।⁵ इसका विकास उत्तर-मध्ययुग में बताया गया है। इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय भावनाओं के महाकवि विलियम शेक्सपीयर (1564-1616) के कार्यों,

1. विस्तार के लिए देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *इण्डिया डिस्टॉर्टेड : ए स्टडी ऑफ़ ब्रिटिश हिस्टॉरियन्स ऑन इण्डिया*, भाग-2 (नयी दिल्ली, 1996), पृ 160

2. डू एचू कार, *नेशनलिज़्म* (रायल इंस्टीट्यूट ऑफ़ इन्टरनेशनल अफेयर्स, न्यूयॉर्क, 1945), पृ 7

3. *वही*, पृ 9, फुटनोट

4. *वही*, पृ 14-20

5. सी जे एच हैज़, *नेशनलिज़्म, ए रिलीज़न* (न्यूयॉर्क, 1940), पृ 39

विशेषकर 'हेनरी फिफ्थ' तथा 'किंग रिचर्ड द सेकिण्ड' को इस दृष्टि से देखा गया। हेनरी फिफ्थ राजा कहता कि "तुम अच्छे जवान हो जिसकी बाजुएँ इंग्लैण्ड की बनी हैं।" इसी प्रकार की भावनाएँ जॉन मिल्टन (1608-1674), क्रामवेल, जॉन लॉक (1632-1704), हिगो, कोलिंगव्रक, टोरियो— सभी के द्वारा इंग्लैण्ड के गौरव बढ़ानेवालों के रूप में बताई गई है।

प्रमुख रूप से राष्ट्रीय अस्तित्व या पहचान को दूसरे देशों के साथ युद्धों ने बड़ा बल दिया। इसने राजनीतिक, आर्थिक, वंशीय, सांस्कृतिक, धार्मिक आधार भी प्रदान किया। हनटिंगटोन¹ ने यह माना है कि युद्ध राज्य बनाते हैं तथा राष्ट्रों का निर्माण होता है। माइकल होवर्ड² का भी कथन है कि 'कोई भी राष्ट्र शब्द के सही अर्थों में बिना युद्ध के राष्ट्र के रूप में जन्म नहीं ले सकता..... कोई भी स्वाभिमानी समुदाय विश्व में एक नवीन तथा स्वतन्त्र कर्ता के रूप में बिना सशस्त्र संघर्ष या चुनौती के स्थापित नहीं हो सकता।'

अतः ब्रिटिश राष्ट्र का निर्माण युद्धों, मुख्यतः फ्रांस के साथ युद्धों तथा नेपोलियन के युद्ध स्वरूप हुआ। बार-बार फ्रांस के संघर्षों ने इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा वेल्स के लोगों को फ्रांस के विरोध में जोड़ दिया। इतना ही इन संघर्षों तथा युद्धों को विश्व की प्रसिद्ध कैथोलिक शक्ति के विरुद्ध प्रोटेस्टेंटों का बतलाया गया। औद्योगिक क्रान्ति ने व्यापारिक तथा आर्थिक प्रतिस्पर्धा को भी बढ़ा दिया।

सर तेजबहादुर सप्रू (1875-1949)³ ने इसे 'वियना-सन्धि (1815 ई.) का फल' बताया जिसने यूरोप की व्यापारिक प्रतियोगिता को बढ़ावा दिया। उल्लेखनीय है कि महर्षि अरविन्द यूरोप में राष्ट्रवाद को 18वीं या 19वीं शताब्दी की देन स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्पेंग्यूलर के मत को भी स्वीकार नहीं किया जिसने राजवंशों की समाप्ति के रूप में फ्रांस की क्रान्ति से इसमें महत्वपूर्ण तत्त्व देखे। वह मार्क्सवादी-विचारक के तर्क को भी स्वीकार नहीं करते जो उसे बुर्जुआ के आर्थिक हितों को तर्कसंगत बताने की प्रक्रिया का नाम देते हैं।⁴ इंग्लैण्ड के

1. श्याम खोसला व कुठियाल, पूर्वोद्धृत, पृ 21

2. वही, पृ 21

3. दुर्गादास, भारत : कर्जुन से पहले तथा उसके पश्चात् (1971 का संस्करण), पृ 205; देखें, समाजवाद का शब्दकोश, उद्धृत (भारतीय-संस्कृति-प्रचार-समिति), शासकीय राष्ट्र और सांस्कृतिक राष्ट्र (भोपाल, 1999), पृ 14

4. एस् सी मित्तल, भारतीय-राष्ट्रचिन्तकों का वैचारिक दर्शन तथा इतिहास-दृष्टि (हैदराबाद, 2001), पृ 78

पश्चात् फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल तथा डेनमार्क में इसका विकास हुआ। फ्रांस की क्रान्ति तथा नेपोलियन के युद्धों ने समूचे यूरोप अर्थात् मध्य तथा पूर्वी यूरोप में भी चेतना जगायी। यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि इंग्लैण्ड से भी पूर्व जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय भाव का विकास हुआ। 1748 ई. में जर्मनी के विख्यात विचारक जोहान गॉटफ्रेड हर्डर (1744-1803)¹ ने 'आईडियाज़ ऑन फिलॉसॉफी एण्ड हिस्ट्री ऑफ़ मैनकाइण्ड' नामक पुस्तक लिखी, जिसके कारण उन्हें जर्मनी के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का जनक माना जाता है। इस पुस्तक में उन्होंने किसी विदेशी तरीकों के अनुकरण का विरोध किया तथा उनका मत था कि सच्ची सभ्यता स्थानीय मूल से ही विकसित हो सकती है। उनके अनुसार एक भाषावाली जनता की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति होती है। उनका कथन है कि 'प्रत्येक सभ्यता की एक आत्मा' होती है। यही राष्ट्रीय आत्मा का विचार जर्मनी में फैला। जॉन फिक्टे (1762-1814) ने सन् 1808 ई. में 'ऐंड्रेसेज़ टू द जर्मन नेशन' नामक पुस्तक के द्वारा जर्मन में राष्ट्रीय भावना का पितृभूमि के प्रति निष्ठा बढ़ायी। इसी विचार को आगे हीगेल (1770-1831) तथा लियोपोल्ड वॉन रैन्के (1795-1886) ने आगे बढ़ाया। यद्यपि जर्मनी का एकीकरण 1871 ई. में हुआ तथापि उसमें प्रखर राष्ट्रवाद इंग्लैण्ड अथवा यूरोप के किसी अन्य देश से पूर्व हुआ। इसी भाँति इटली के एकीकरण तथा रूस में भी राष्ट्रीयता की नव भावना आयी। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इतना ही नहीं यूरोप के बड़े व्यक्ति— ओटोमन तुर्की-साम्राज्य में भी कुछ चेतना आयी। एशिया तथा अफ्रीका के अधिकतर देशों में यह राष्ट्रीयता की भावना प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पनपी।

आधुनिक चिन्तकों, मुख्यतः होन्स कोहन² तथा सी जे हेज़ ने 19वीं शताब्दी में प्रचलित राष्ट्रवाद को दो श्रेणी में बाँटा है। एक वे जिनका निर्माण पाश्चात्य जगत् में हुआ तथा दूसरे वे जो मध्य या पूर्वी यूरोप अथवा एशिया में, विशेषकर जर्मनी, रूस तथा भारत में हुए। लुई लियो स्नाइडर (1907-1993)³ ने होन्स कोहन के विचारों को एक चार्ट के माध्यम से दोनों में अन्तर बतलाया है।

1. विस्तार के लिये देखें, हृदयनारायण दीक्षित, 'राष्ट्रवाद : भारत और योरूप', राष्ट्रधर्म (जून, 2003), पृ 15

2. होन्स कोहन, द आईडिया ऑफ़ नेशनलिज़्म, पृ 329-331

3. लुई लियो स्नाइडर, वैरायटीज़ आफ़ नेशनलिज़्म : ए कम्पेयरेटिव स्टेडी (इलोनियस, 1976), पृ 30-31

लुई स्नाइडर ने अपनी व्याख्या करते हुए पाश्चात्य राष्ट्रवाद को एक बहुवादी तथा खुला समाज बतलाया जबकि गैर-पाश्चात्यवादी राष्ट्रवाद को एक अधिनायकवादी तथा बन्द समाज बतलाया। इसी भाँति उसने पाश्चात्य राष्ट्रवाद में राजनीतिक यथार्थ को महत्त्व देनेवाला, समान इच्छा तथा समान भविष्य से जुड़ा एकजुट नागरिकों का समूह, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का इच्छुक, आत्मविश्वासी, आशावादी तथा शक्तिशाली मध्यवर्ग से समर्थित बतलाया। जबकि उसने गैर-पाश्चात्यवादी राष्ट्रवाद को शाश्वत एवं आदर्श पितृभाव रखनेवाला, लोक-समुदाय, सामूहिकता का प्रशंसक, आत्मचेतना हीन तथा कुलीन तथा जनता से समर्थित बतलाया।

पाश्चात्य जगत् की भ्रामक धारणा

सामान्य भारतीय-राष्ट्रवाद के बारे में इसमें आवश्यक तत्त्वों के आधार पर विभिन्न विचारों को व्यक्त किया गया है। साधारणतः इन विचारों को दो प्रकार में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम श्रेणी में वे विचारक हैं जो यह मानते हैं कि भारत में राष्ट्रवाद पश्चिमी जगत् से लिया गया है। विशेषकर वे इसे इंग्लैण्ड की देन मानते हैं। उनके अनुसार अंग्रेजों से पूर्व भारत में न कोई राष्ट्रवाद का अस्तित्व था और न ही कोई राष्ट्रीय भावनाएँ ही थीं। उनके विचार से भारत में राष्ट्रवाद का उद्भव 19वीं शताब्दी में हुआ।

प्रसिद्ध विद्वान् ए. आर्. देसाई¹ का मत है, 'भारतीय-राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचार है। इसका प्रारम्भ ब्रिटिश काल में अनेक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं की व्यक्तिगत तथा निष्पक्ष शक्तियों द्वारा हुआ, जो भारतीय-समाज में ब्रिटिश शासन की अवस्था तथा विश्व की शक्तियों के कारण विकसित हुई।'।

एक दूसरे प्रमुख इतिहासकार एस. एल. सीकरी² ने भारत से राष्ट्रवाद के बारे में कहा, 'इसके आवश्यक तत्त्वों में कुछ बीज रूप में पैदा हुए, कुछ का विकास हुआ, कुछ ने इसका स्वरूप धारण किया और कुछ ने इसकी विचारधारा तथा तकनीकी को प्रभावित किया। अतः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव, विकास तथा तेजी से प्रगति के उत्तरदायी कारण विभिन्न तथा अनेकरूपी हैं।'।

1. ए. आर्. देसाई, *सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ़ इण्डियन नेशनलिज्म*

2. एस. एल. सीकरी, *राइज़ एण्ड फुलफिलमेंट ऑफ़ इण्डियन नेशनल मुवमेंट* (1971)

इसी भाँति एस. सी. मिश्र भी भारत में राष्ट्रवाद का विकास 19वीं शताब्दी में मानते हैं। उनके अनुसार भारत में राष्ट्रवाद का विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश राज्य की उपज है। वे इसे देश का राजनीतिक एकत्रीकरण, भारत के पुराने सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का ध्वंस, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, आधुनिक व्यापार तथा उद्योग का प्रारम्भ और नये सामाजिक वर्ग के उदय को राष्ट्रवाद का आधार मानते हैं। परन्तु अधिकतर भारतीय-विद्वान् उपर्युक्त मत से जरा भी सहमत नहीं हैं। सर तेजबहादुर सप्रू¹ ने 1940 में कहा कि भारतीय-राष्ट्रीयता निश्चित रूप से यूरोप की इस प्रादेशिक राष्ट्रीयता से भिन्न है जो 100 वर्ष पूर्व की है।

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों अथवा कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय-विद्वानों ने भी भ्रमवश यह बतलाया कि राष्ट्रवाद का चिन्तन मूलतः एक यूरोपीय विचार है। कुछ ने आगे बढ़कर यह भ्रम भी फैलाया कि यह इंग्लैण्ड की देन है तथा इसका विकास भारत में 19वीं शताब्दी में हुआ। यह सोचना मूर्खता होगी कि प्रत्येक देश का ऐतिहासिक विकास यूरोप अथवा पश्चिमी जगत् की देन है। सत्य तो यह है कि इसका विकास विभिन्न देशों में विभिन्न कालों व विभिन्न परिस्थितियों में हुआ। वे परिस्थितियाँ तथा उत्तरदायी तत्त्व भी एकरूप न थे।

भारत एक पुरातन राष्ट्र

निश्चित ही भारतीय-राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का विकास अत्यन्त प्राचीन है। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि यह विश्व के प्राचीनतम राष्ट्रों में से एक है। कुछ का मत है कि अन्य प्राचीन राष्ट्र चीन, तारतर, अरब व फ़ारस हैं।²

यूरोपीय-राष्ट्रों के विपरीत भारत-राष्ट्र मूलतः सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक, सामूहिक व विवेक दृष्टि से सनातन धर्म (वैश्विक) पर आधारित है। इसकी प्रमुखता तथा बल राजनीतिक व आर्थिक के बजाय सांस्कृतिक तथा सामाजिक रहे हैं। यह धर्म पर आधारित है। किसी एक राजनीतिक शक्ति की अपेक्षा राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करता है। यह राज्यों के

1. दुर्गादास, पूर्वोद्धृत, पृ. 205

2. विलियम जोन्स, देखें, सर विलियम जोन्स का तीसरे वार्षिक अधिवेशन, एशियाटिक सोसाइटी में अध्यक्षीय भाषण, 09 फरवरी, 1786, *एशियाटिक रिसर्च*, भाग-1 (1884 का संस्करण), पृ. 345

राष्ट्र पर विश्वास करता है, न कि राष्ट्रों के राज्य पर। यह एक विकासवादी राष्ट्र है, न कि परिस्थितियों की अचानक आवश्यकता तथा मांग की उपज है। यह किसी व्यापारिक या राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता या संघर्ष का परिणाम नहीं है। वैदिक साहित्य में 'नेशन' शब्द को 'राष्ट्र' के रूप में कहा गया है। अतः राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद का चिन्तन उतना ही पुराना है जितनी वैदिक सभ्यता। राष्ट्रवाद का आधार प्राचीन संस्कृति रही है। यहाँ तक कि पाश्चात्य सभ्यता में रचे-पचे भारत के पूर्व प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी माना कि 'भारत की एकता का स्वप्न भारतीय के मस्तिष्क ने, सभ्यता के प्रारम्भ से ही स्वीकार किया।'।

भारत-राष्ट्र के तत्त्व

सामान्यतः भारतीय-चिन्तकों ने राष्ट्र के लिए दो तत्त्वों को सर्वोच्च स्थान दिया है— प्रथम, निश्चित समान भूमि तथा दूसरा, जीवन के समान सांस्कृतिक मूल्य। पहले में भारत तथा इस भूमि के साथ यहाँ के लोगों का अटूट संबंध बतलाया है तथा दूसरे में सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को विकसित तथा अस्मरणीय काल से बताया है।

अतः राष्ट्र का आधार भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता रहा है। यह एक समान भूमि को दर्शाता है, जहाँ लोग रहते थे, जिनमें सांस्कृतिक एकता तथा परम्पराएँ थीं। अतः इसके अनुसार राष्ट्र किसी समझौते या सहमति का परिणाम नहीं है बल्कि यह स्वनिर्मित है। इसका शरीर भूमि तथा इसकी आत्मा संस्कृति है। इन दोनों तत्त्वों को विस्तार से जानना आवश्यक होगा।

मातृभूमि से अटूट प्रेम

भारतीय-मनीषियों ने राष्ट्रवाद के चिन्तन तथा व्याख्या का प्रथम प्रमुख आधार भूमि माना है। *यजुर्वेद* के कुछ मंत्रों में राष्ट्र के गुणों की चर्चा की गई है। इसके अनुसार राष्ट्र उन व्यक्तियों के मिलकर रहने से होता है जो एक निश्चित भूमि पर रहते हैं जो विवेक, बुद्धि को प्रमुखता देते हैं तथा आन्तरिक प्राकृतिक संकटों से सुरक्षा में सक्षम हैं।¹

भारत-राष्ट्र की विस्तृत व्याख्या तथा इसके भूमि से अटूट संबंधों का

1. पं. जवाहरलाल नेहरू, *द डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया* (न्यूयॉर्क, 1946)
2. *शुक्लयजुर्वेद*, 21-22

वर्णन *अथर्ववेद* के 'पृथिवीसूक्त' अथवा 'भूमिसूक्त'¹ में किया गया है। इसमें भूमि अथवा मातृभूमि के प्रति 63 अत्यन्त भावपूर्ण समर्पित मन्त्रों में की गई हैं। इसमें कहा गया है कि यह भूमि चारों ओर ऋषियों तथा विभिन्न भाषाओं के बोलनेवाले तथा अनेक परम्पराओं को माननेवाले व्यक्तियों से आच्छादित है। कुछ विद्वानों ने इन पदों को 'वेदों का राष्ट्रीय गीत' कहा है।² इसमें से कुछ मन्त्र निम्नलिखित हैं।

‘माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः’³ अर्थात् यह भूमि मेरी माता है तथा मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। **‘सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्रय मे पयः’**⁴ यानि भूमि मेरी माता है जो मुझे दूध पिलाती है। इसी भाँति एक मन्त्र में कहा है कि **‘भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्’**⁵ अर्थात् हे मातृभूमि मेरी रक्षा करें।

एक अन्य महत्वपूर्ण मन्त्र में कहा है, **‘त्वज्जातास्तवयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः उद्यन्तसूर्यो रश्मिभिरातनोति’**⁶ अर्थात् मातृभूमि ! (तुम्हारे शरीर से उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य) तुम्हारे ऊपर संचार करते हैं। तुम ही द्विपादों और चतुष्पादों का संरक्षण तथा धारण-पोषण करती हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद— ये पञ्चजन निःसन्देह तुम्हारे ही पुत्र हैं। इनके लिए सूर्य उदय होकर प्रकाश देता है।

पृथिवीसूक्त के एक मन्त्र में आठ गुणों की याचना की गई है। मन्त्र है— **‘सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु’**⁷ अर्थात् ये गुण हैं सत्य, उदारता का भाव, सरलता, दक्षता, सहन करने की शक्ति, ज्ञान एवं विज्ञान तथा श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार, परस्पर सहयोग तथा संरक्षण। इसके लिए प्राकृतिक सम्पदाएँ दी गई हैं, जैसे नदियाँ, पर्वत, वृक्ष व अन्य वनस्पतियाँ तथा खेतिहर समृद्धि।

1. *अथर्ववेद*, काण्ड 12, सूक्त 1, मन्त्र 1-63
2. क्षीतीश वेदालंकार (सं.) *सातवळेकर-अभिनन्दन-ग्रन्थ*, दिल्ली, पृ. 53-71
3. *अथर्ववेद*, पुरुषसूक्त, 12.1.12; डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, *नेशनलिज्म एण्ड हिंदू कल्चर* (संशोधित संस्करण, 1957, दिल्ली), पृ. 12
4. *अथर्ववेद*, 12.1.10
5. *वही*, 12.1.63; प्रियव्रत वेदवाचस्पति, *वेदों का राष्ट्रीय गीत*
6. *वही*, 12.1.15
7. *वही*, 12.1.1

मनु ने इस समुदाय की भूमि को देवताओं की देन कहा है।¹

विष्णुमहापुराण में अनेक स्थानों पर इस भूमि की प्रशंसा की गई है तथा भारतवर्ष को विभिन्न देशों में सर्वोत्तम माना है। वस्तुतः इस पुराण में एक पूरा अध्याय ही इसी से जुड़ा है। इसका एक सुप्रसिद्ध पद है—

**‘उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥’²**

अर्थात् समुद्र से उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण-स्थित देश का नाम भारतवर्ष है तथा इसकी संतति भारती (भारतीय) हैं।

भारतीय-राष्ट्रवाद में लोगों की भूमि के प्रति अनन्य भक्ति रही है। मातृभूमि के प्रेम तथा समर्पण को सर्वोच्च, महानतम तथा पवित्रतम माना है। एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है—

**‘न मे वाञ्छाऽस्ति यशसि विद्वत्त्वे न च वै सुखे ।
प्रभुत्वे नैव वास्वर्गे मोक्षेऽप्यानन्द दायके ॥
परन्तु भारते जन्म मानवस्य च वा पशोः ।
विहंगस्य च वा जन्तोर्वृक्ष पाषाणयोरपि ॥’**

अर्थात् मैं किसी प्रकार की प्रतिष्ठा, ज्ञान, जीवन के सुखों, शक्ति, यहाँ तक कि स्वर्ग या मोक्ष का इच्छुक नहीं हूँ; परन्तु मेरी मनोकामना है कि मेरा पुनर्जन्म भारत में हो, चाहे किसी एक मानव या एक जानवर या एक पक्षी या एक कीट-पतंग या एक पत्थर के रूप में ही क्यों न हो।

इसी भाँति वाल्मीकिरामायण की किसी टीका में भगवान् श्रीराम ने मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति को स्वर्ग से महान् माना है—

‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गिरीयसी’

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है।

इसी भाँति महाभारत³ में भी राष्ट्र का यशोगान किया गया है। अतः

सभी वैदिक या प्राचीन साहित्य में ‘पृथिव्यैः समुद्रपर्यन्ताया एकराट्’¹ अर्थात् समुद्रों तट की समस्त भूमि का एक राष्ट्र माना गया है।

अनेक ग्रन्थों में ‘आसेतुहिमाचलम्’ एक राष्ट्र की बात की है। आचार्य चाणक्य से लेकर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह ‘दिनकर’ (1908-1974) ने पर्वतराज हिमालय का यशोगान किया गया है।² चाणक्य ने समुद्रों के उत्तर में हिमालय का वर्णन करते हुए इसकी लम्बाई 1,000 योजन बतलाई है—

‘तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरं उदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणम्’³

महाकवि कालिदास ने हिमालय को दैवीय बतलाते हुए उसे सजीव तथा भावपूर्ण श्रद्धाञ्जलि देते हुए लिखा है—

**‘अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥’⁴**

अर्थात् भारतवर्ष के उत्तर में देवस्वरूप पर्वतराज हिमालय स्थित है, पूर्व और पश्चिम में समुद्र का अवगाहन करता हुआ यह पृथिवी के मानदण्ड की भाँति स्थित है।

अतीत से वर्तमान तक सदैव भारतीयों का अपनी मातृभूमि से अटूट प्रेम तथा भक्ति रही है। वर्तमान काल में स्वामी विवेकानन्द, श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, श्रीअरविन्द, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री माधवराव सादाशिवराव गोळवळकर (श्री गुरुजी) इत्यादि अनेक महापुरुषों ने मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति दर्शाते हुए भारतीयों के मन की बात कही है। स्वामी विवेकानन्द⁵ ने स्पष्ट कहा कि इस पृथिवी पर कोई ऐसी भूमि है जिसे ‘पुण्यभूमि’ कहा गया है, जो किसी भी आत्मा को ईश्वर की ओर प्रकृत करती है, वह भारतभूमि है। उन्होंने भारतभूमि के प्रत्येक धूलकण को भी अत्यधिक पवित्र माना है। श्री गुरुजी ने विस्तार से समस्त हिंदू-समाज की श्रद्धा का केन्द्र मातृभूमि

1. मनुस्मृति: राधाकुमुद मुखर्जी, पूर्वोद्धृत, पृ 14
2. विष्णुमहापुराण, 2.3.1; ब्रह्ममहापुराण, 19.1
3. महाभारत, शान्तिपर्व

1. ऐतरेयब्राह्मण, 8.39.15
2. देखें, सन् 1933 में रचित प्रसिद्ध कविता ‘हिमालय’
3. अर्थशास्त्र, 9.1.18
4. कुमारसम्भवम्, 1.1
5. एकनाथ रानाडे (संकलित) उत्तिष्ठत जाग्रत (कानपुर, 1963), पृ 3

को बतलाया है।¹

भारतभूमि के प्रति भक्ति तथा समर्पण-भाव

अतीत से वर्तमान तक हिंदू-समाज का सदैव मातृभूमि के प्रति अटूट लगाव तथा प्रेम रहा है। भारत में तीर्थयात्राओं के आयोजन का प्रयोजन है— मातृभूमि की पूरी प्रदक्षिणा। इन यात्राओं के द्वारा भारतीय मातृभूमि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। ये तीर्थस्थल सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले हैं। इस मातृभूमि के आसेतुहिमाचलं स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। *महाभारत* के वनपर्व में नारद तथा धौम्य ऋषि द्वारा तीर्थों की विस्तृत सूची दी हुई है। *गरुडमहापुराण* के 66वें अध्याय में तीर्थस्थलों की सूची दी गई है। *तन्त्रचूडामणि* में 52 शक्तिपीठों का वर्णन है। इसी भाँति *देवीभागवतपुराण* में 108 तीर्थों की सूची दी है। *कालिकापुराण*, *शिवमहापुराण* तथा *स्कन्दमहापुराण* में अनेक स्थलों का वर्णन है। देश के चार कोनों पर चार धाम (1. बद्रीनाथ, 2. द्वारकापुरी, 3. जगन्नाथपुरी एवं 4. रामेश्वरम्) एवं क्रमशः इन्हीं कोनों पर जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य द्वारा चार मठ (1. ज्योतिर्मठ, 2. शारदामठ, 3. गोवर्द्धनमठ एवं 4. काञ्चीकामकोटिमठ) संस्थापित हैं। महाकुम्भों के पर्व हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिक में होते हैं। अतः देवदर्शन के निमित्त मातृभूमि का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

आज भी प्रत्येक हिंदू भारतभूमि की पवित्र नदियों का स्मरण करता है तथा उसकी इच्छा रहती है कि जीवन में कम-से-कम एक बार इन पवित्र नदियों में स्नान करे। इस सन्दर्भ में पवित्र मन्त्र है—

‘गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।

नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥’

हिंदू-समाज के दैनिक तथा लौकिक जीवन में बार-बार मातृभूमि का स्मरण किया जाता है। प्रातः उठते ही भूमि पर पाँव रखते ही वह क्षमायाचना करते हुए कहता है—

‘समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।

विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥’²

1. विस्तार के लिए देखें, *श्री गुरुजी समग्र दर्शन*, खण्ड-4 (नागपुर, 1974), पृ 166-170; एमू एस् गोळवलकर, *बंच ऑफ़ थॉट्स* (बेंगलूरु, 1966), पृ 88
2. *विश्वामित्रस्मृति*, 1.44-45

अर्थात् समुद्ररूपी वसन धारण करनेवाली और (चराचर प्राणिरूप अपनी सन्तानों के पोषण हेतु जीवनदायिनी नदियों-रूपी दुग्धधाराओं को जन्म देनेवाले) पर्वतों-रूपी स्तनोंवाली हे विष्णुपत्नी भूमाता ! अपने ऊपर पैर रखने के लिए मुझे क्षमा करो।

प्रायः सभी धार्मिक रीति-रिवाज भूमि-पूजन से प्रारम्भ होते हैं। किसी भी संकल्प के समय सम्पूर्ण भारत में **‘जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे...’** आदि कहकर मातृभूमि का स्मरण किया जाता है। सुश्री भगिनी निवेदिता (1867-1911)³ का कथन है कि नियागरा का प्रपात यदि गंगा के तट पर होता तो भारत में इसका मूल्यांकन भिन्न प्रकार से होता।

अतः संक्षेप में यह माननीय है कि भारतीय राष्ट्रवाद का एक प्रमुख तत्व भूमि तथा उसके प्रति अनन्य भक्ति सदैव रही है।

समान सांस्कृतिक जीवन-मूल्य

मातृभूमि के प्रेम के अतिरिक्त भारत राष्ट्र का दूसरा आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों को माना गया है। इसने सम्पूर्ण समाज को युगों-युगों से सुदृढ़ रूप से जोड़ा हुआ है।

धर्म

जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों में सर्वप्रथम भारत का वैशिष्ट्य धर्म तथा अध्यात्म है। धर्म जीवन को उदात्त एवं विशाल बनाता है। ‘धर्म’ शब्द का भाषान्तर अथवा पर्यायवाची अंग्रेजी का न ‘रिलीज़न’ है और न ही मुस्लिमों का ‘मज़हब’।

‘धर्म’ शब्द ‘धृ’ धातु से बना है। कहा गया है कि **‘धारयते इति धर्मः’**। अर्थात् जो धारण करने योग्य है, वह धर्म है। अतः जिसमें समाज की धारणा होती है, वही धर्म है। धर्म का अर्थ ‘कर्तव्य’ है। धर्म शब्द किसी विशेष, सर्वोच्च रक्षक या पैगंबर या किसी विशेष पुस्तक, संगठित स्थल या निश्चित नियमों पर आधारित नहीं है।

सभी सम्प्रदायों के प्रति समभाव का विचार ऋग्वेद³ में मूल रूप से है

1. संकल्प-पाठ
2. राधाकुमुद मुखर्जी, पूर्वोद्धृत, पृ 33
3. ऋग्वेद, 1.64.46

जहाँ ‘एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति’ अर्थात् सत्य एक है जिसे विद्वान् अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं।

धर्म का धर्मांतरण या हिंसा से कोई संबंध नहीं है। यह सर्वदा सकारात्मक, जनहितकारी तथा मानवता का रक्षक होता है। धर्म के दो अर्थ हैं— पहला, व्यक्तित्व का विकास तथा दूसरा, सामाजिक व्यवस्था का निर्माण। कणाद ने धर्म का उद्देश्य बतलाया है— ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’¹ अर्थात् इससे इस जीवन में पूर्ण सुख और परलोक में शान्ति मिले, वही धर्म है।

धर्म की देश की एकता में तथा सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में प्रमुख भूमिका रहती है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण साधन रहा जिसने राष्ट्रवाद तथा देश की एकात्मकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत के प्राचीन साहित्य— वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। धर्म, व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र-जीवन को एक करने की कड़ी है। धर्म ने अनेक विचारों को जोड़ा तथा असहिष्णुता तथा अलगावपन को त्यागा तथा अस्वीकार किया।

धर्म इसलिए भी एक महत्वपूर्ण तत्व है जो व्यक्ति की पहचान से जुड़ा है। यह मानव व मानवता के संबंधों को दर्शाता है। अतः मानवी प्रगति की पूर्णता का बोध कराता है। सन् 1915-’18 ई. के दौरान श्रीअरविन्द ने अपने ‘आर्य’ (वॉल्यूम 2, नृ 2— वॉल्यूम 4, नृ 12) में प्रकाशित लेखों में जो बाद में एक पुस्तक² के रूप में प्रकाशित हुए, धर्म के मर्म को समझाया है। श्रीअरविन्द मानवीय एकता के विकास की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। वे मानव के संबंध क्षेत्र, समाज तथा राज्य से बतलाते हैं। उनका मत है कि यहाँ तक कि संगठित राज्य, न ही राष्ट्र का सुन्दरतम मन है, और न ही समुदाय की ऊर्जा का योग। बल्कि वे इसे सामूहिक अहंकारवाद बतलाते हैं जो समुदायों की योग्यता से भी निम्न हैं। वे राष्ट्र के विचार को स्वाभाविक मानते हैं। उनके अनुसार राज्य केवल

एकरूपता चाहता है जो अन्ततोगत्वा जीवन नहीं है। उनके अनुसार जीवन विविधता में है। मनुष्य का विकास व्यक्ति के आसपास जुड़े व्यक्तियों, परिवार, कुटुम्ब, कबीले, राज्य तथा राष्ट्र से होता है और तब कहीं जाकर सम्पूर्ण मानवता का विचार विकसित होता है। वे राज्य के विचार को क्षुद्र तथा जीवित मशीन की भाँति मानते हैं तथा मानव का विचार उदात्त तथा ईश्वर के निकट मानते हैं।

भारत एवं सनातन धर्म

भारतीय-धर्म की एक महान् देन इसका एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण है। इसे सनातन धर्म कहा गया है। यह मानवीय दृष्टि प्रकृति तथा उसके विभिन्न उपांगों में देखती है। इस दृष्टि से राष्ट्र के प्रति भारतीय-दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न है। यहूदी-ईसाई (Judeo-Christian)-परम्परा के प्रारम्भ से, पश्चिम का नाता प्रकृति से टूट गया तथा वे इसे अधिक-से-अधिक निर्जीव समझकर उसका शोषण करने की वस्तु समझने लगे। इसको उनके पारम्परिक ग्रन्थ *ओल्ड टेस्टामेन्ट* और *ज़ेनेसिस* से देखा जा सकता है। जब छठे दिन जाहोवल घोषणा करता है कि हमें मनुष्य का अपना चित्र बनाना चाहिए। हमें इच्छानुकूल समुद्र की मछलियों पर, आकाश में पक्षियों पर, पशुओं पर, तमाम पृथिवी पर तथा पृथिवी पर घूमनेवाले सभी जीवों पर राज्य करना चाहिए³ और उसने नवजात व्यक्ति से कहा, “पृथिवी पर अपना आधिपत्य करो।” इसके विपरीत भारत की सांस्कृतिक परम्परा पृथिवी को एक देवी अर्थात् भूदेवी, नदियों को देवियाँ, पर्वतों को देवता, अनेक वृक्षों को पवित्र, यहाँ तक अनेक पौधों और फूलों को रीति-रिवाजों में प्रयोग करते हैं। लगता है कि समस्त राष्ट्र दैवीय शक्ति से व्याप्त है।⁴ हिंदुओं के लिए प्रकृति प्राकृतिक साधनों का एक मृत ढेर नहीं बल्कि सुन्दरतम सुरक्षा है।

एक विद्वान् के अनुसार⁵, सनातन धर्म आत्मा-धर्म है, और इसीलिए यह विश्व-धर्म है। यह अनेक सम्प्रदायों की माता है। वह लिखता है⁶, सनातन धर्म

1. वैशेषिकदर्शन, 1.1.2
2. बद्रीनाथ चतुर्वेदी, रीजन, ‘नेशन एण्ड प्रिंसिपल ऑफ़ डायवर्सिटीज़’, *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया*, 09 जून, 1990
3. श्रीअरविन्द, *द आइडियल ऑफ़ ह्यूमन यूनिटी*, (चेन्नई, 1919)

1. *ओल्ड टेस्टामेन्ट* 1.26 व 1.28 देखें, माइकेल डेनिनो, *द इण्डियन माइण्ड : दैन एण्ड नाऊ* (कनाडा, 2000), पृ 81
2. वही, पृ 84
3. रामस्वरूप, *ऑन हिंदुइज्म, रीव्यूज़ एण्ड रिफ्लेक्शन्स* (नयी दिल्ली, 2000), पृ 83
4. वही, पृ 3, विस्तार के लिए देखें *सनातन धर्म और उसके उन्नायक* (चण्डीगढ़, 1999), पृ 1-36

एक पाठ सिखाता है— अयथार्थ से यथार्थ की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, तथा मृत्यु से अमरता की ओर। वह तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कहता है कि समस्त आधुनिक सेक्युलर-विचारक आदमी में जानवर का बीज-रूप देखता है जबकि सनातन धर्म जानवरों में ईश्वर, उसकी शक्ति तथा देवताओं की उपस्थिति देखता है। यह धर्म जानवरों के प्रति सद्ब्यवहार सिखाता है, यह जीव-दया सिखाता है।¹

सनातन धर्म सिखलाता है कि मानव एक महान् समुदाय से संबंध रखता है। मानव एक जागतिक प्राणि है। मानव एक व्यापक तथा नैतिक दृष्टि होने से एक सच्चे, बड़े तथा दयालु संस्कृति का आधार दे सकता है।

अनेक महापुरुषों, जैसे— स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, पुं मदनमोहन मालवीय (1861-1946), महात्मा गाँधी (1869-1948) आदि ने सनातन धर्म के सांस्कृतिक मूल्यों का विस्तृत विश्लेषण किया है। श्रीअरविन्द ने सनातन धर्म को 'मानवीय कल्याण का निर्माता' कहा है। वे सनातन धर्म को भारत की आत्मा व राष्ट्रवाद कहते हैं। मालवीय जी का कथन है कि सनातन धर्म विश्व की सर्वप्रिय वस्तु है।² एक प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल (1904-1972)³ ने सनातन धर्म के विचार पर विस्तृत अध्ययन किया। उनके अनुसार इसकी उत्पत्ति से वर्तमान तक इसका वैशिष्ट्य, मानव का चहुँमुखी विकास है। डॉ. रमाकान्त अंगिरस् (जन्म-1936)⁴ ने इसे जीवन के प्रति विशाल दृष्टि बतलाई जो न किसी सम्प्रदाय से जुड़ी है और न ही किसी व्यक्ति से, बल्कि मानवता के कल्याण से जुड़ी है। प्रसिद्ध चिन्तक श्री सीताराम गोयल (1921-2003) ने सूक्ष्मता के साथ सनातन धर्म का दार्शनिक-अध्ययन किया। उनके अनुसार यह 'यत्पिण्डे तत्त्रह्माण्डे' पर आधारित है।⁵ यह बीज-रूप है।

1. सनातन धर्म और उसके उन्नायक (चण्डीगढ़, 1999), पृ. 10-11

2. श्रीअरविन्द, 'अवर सनातन धर्म', 'धर्म'

3. उद्धृत, वासुदेव शरण अग्रवाल, लेख, सनातन धर्म और उसके उन्नायक, पृ. 11

4. वही, पृ. 11-12

5. वही, देखें, लेख, डॉ. रमाकान्त अंगिरस्, 'आधुनिक सन्दर्भ में सनातन धर्म'

6. सीताराम गोयल, परवर्त्सन ऑफ़ इण्डियाज़ पॉलिटिक्स पारलेंस (दिल्ली, 1984), पृ. 55, 58-80; देखें लेख 'हम अपने धर्म से भटक गये हैं', जनसत्ता, फरवरी 1988; 'फॉर ए हिंदू हिस्टोरोग्राफी', 'आर्गनाइज़र', दीपावली-अंक, 1981

अतः सनातन धर्म के विश्वव्यापी स्वरूप को विभिन्न शब्दावली में अनेक विद्वानों ने बतलाया है। इसे 'शाश्वत जीवन-मूल्य', 'शाश्वत विश्वास'¹, 'शाश्वत परम्परा'², 'विश्व-चेतना', 'सर्व धर्म'³ आदि कहा गया है।

श्रीअरविन्द ने अपने उत्तरपाड़ा-भाषण में 'हिंदू-धर्म का उदय तथा विकास सनातन धर्म से बतलाया है। उनके अनुसार हिंदू-धर्म ही इसका सच्चा राष्ट्रवाद⁴ या राष्ट्रीयता है। सनातन धर्म की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जीवन के विभिन्न पहलू विद्यमान हैं। इसमें व्यक्ति के जन्म, बचपन, शिक्षा, विवाह, जीविका तथा विवेकपूर्ण जीवन है। संक्षेप में इसमें जीवन के चारों पुरुषार्थ— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विद्यमान हैं।⁵

अतः सनातन धर्म हिंदू-समाज का आध्यात्मिक केन्द्र है। यह दर्शाता है कि मानव-आत्मा में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एक शक्ति आध्यात्मिक प्रेरणा है जो प्रत्येक मानव में प्रत्येक क्षण रहती है।

श्रीअरविन्द ने सनातन धर्म को शाश्वत् अथवा विश्व-धर्म बतलाते हुए दो सन्देश दिये— प्रथम, राष्ट्र के माध्यम से गरीबों की सहायता तथा दूसरा, सनातन धर्म का प्रचार करना। उन्होंने कहा, "यह सनातन धर्म है जो शाश्वत धर्म है जो इससे पूर्व आप न जानते थे, परन्तु अब मैं आपके सम्मुख इसे रख रहा हूँ।जब यह कहा जाता है कि भारत का उदय होगा, यह सनातन धर्म ही है, जिसका उदय होगा, जब यह कहा जाता है कि भारत महान् होगा, यह सनातन धर्म ही है जो महान् होगा, जब यह कहा जाता है कि भारत का विस्तार और फैलाव होगा, यह सनातन धर्म ही है, जिसका विश्व में विस्तार तथा फैलाव होगा।

1. डॉ. टी. एम्. एस. माधवन, मेटाफिज़िक्स इन् हिंदुइज़्म (पटियाला, 1969), पृ. 18

2. डेविड फ्राउले, हिंदुइज़्म : द इंटरनल ट्रेडीसन

3. स्वामी विवेकानन्द के विचार (उद्धृत), एकनाथ राणाडे, राइज़िंग कॉल टू हिंदू नेशन (कोलकाता, 1963), पृ. 5

4. श्रीअरविन्द, उत्तरपाड़ा-भाषण (पुदुच्चेरी, 1983 संस्करण)

5. एच. वी. शेपाद्रि, 'राजनीति और राष्ट्र-जीवन के आधारभूत मूल्य', पाञ्चजन्य, 15 सितम्बर, 1985

6. डॉ. राधू चन्दर शास्त्री, 'हिंदुत्व की मूल वैदिक परम्परा', पाञ्चजन्य, 22 सितम्बर, 1985

यह धर्म के लिए और धर्म के द्वारा है तथा इसी के लिए भारत अस्तित्व में है।”¹

श्रीअरविन्द के अनुसार यही धर्म भौतिकवाद पर विजय पा सकता है। यही धर्म मानवता को ईश्वर की ओर ले जा सकता है।

उन्होंने अपनी बात को निष्कर्ष रूप में कहा था कि, “हिंदू-राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ हुआ। इसके साथ ही यह गतिवान् तथा विकसित होता है। जब सनातन धर्म का पतन होता है, तब राष्ट्र का भी पतन होता है। यदि सनातन धर्म नष्ट होता है तो राष्ट्र भी नष्ट होगा। सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है।”²

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भी कई महत्वपूर्ण निर्णय हैं³ जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्र हिंदुत्व, ‘हिंदुइज़्म’, हिंदू-संस्कृति या भारतीय-संस्कृति अथवा सनातन धर्म किसी भी ढंग से संकुचित अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, बल्कि यह एक जीवन-मार्ग को बतलाता है, जो ‘रिलीजन’ (मज़हब) के दायरे में नहीं आता जो मुख्यतः एक प्रकार की पूजा-पद्धति से जुड़ा है। प्रसिद्ध लेखिका केरी ब्राउन ने ‘अपनी पुस्तक ‘द इसेन्सल टीचिंग्स ऑफ़ हिंदुइज़्म’ (1988) में लिखा है, ‘वह संस्कृति, जिसे हम हिंदुइज़्म के नाम से जानते हैं और जिसे हिंदू सनातन धर्म— शाश्वत् नियम कहते हैं, हजारों साल से है। यह एक सैद्धान्तिक भाव से इससे अधिक है जिसे पाश्चात्य जगत् ‘रिलीजन’ के रूप में समझते हैं। किसी ईश्वर में आस्था रखे या न रखे, फिर भी वह हिंदू है। यह एक जीवन का मार्ग है, एक मन की अवस्था है।’

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदू-धर्म ‘रिलीजन’ नहीं है, यह सनातन धर्म या मानव-धर्म है, जो विश्वव्यापी सन्देश देता है तथा जो विश्व-बन्धुत्व में भी विश्वास रखता है। सार-रूप में धर्म व्यक्ति, समाज व राष्ट्रीय

1. 30 मई, 1909 ई. को उत्तरपाड़ा में दिए गए प्रसिद्ध भाषण का अंश, सर्वप्रथम 01 जून, 1909 ई. को ‘बंगाली’ (अंग्रेज़ी समाचार-पत्र) में प्रकाशित, पुनः 19 एवं 26 जून, 1909 को ‘कर्मयोगिन्’ में प्रकाशित; द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ़ श्रीअरविन्द, भाग-8, पृ. 12
2. वही, पृ. 12
3. (उद्धृत) जस्टिस डॉ. एमू. रामा ज्वायस, प्रदीप जैन बनाम भारत सरकार (एआईआर 1984, सुप्रीम कोर्ट, 1420), देखें श्याम खोसला व बी. के. कुथियाल, पूर्वोद्धृत, पृ. 37; उद्धृत सुप्रीम कोर्ट का निर्णय 1996, देखें जस्टिस डॉ. एमू. रामा ज्वायस, हिंदुत्व : आवर कल्चरल नेशनलिज़्म एण्ड वैल्यूज़ ऑफ़ लाइफ़ (दिल्ली, 1996) पृ. 12-13
4. (उद्धृत) जस्टिस डॉ. एमू. रामा ज्वायस, श्याम खोसला एवं कुथियाल, पूर्वोद्धृत, पृ. 37

जीवन को जोड़नेवाला तत्त्व है।

आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकता भारत में सदैव परिवर्तन की मार्गदर्शिका भावना रही है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रक्रिया को समाज में परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में इसका अध्ययन किया जा सकता है। आध्यात्मिकता, धर्म तथा सामाजिक चेतना को बढ़ाती है और चेतना से सामूहिक जागृति आती है, जो आध्यात्मिक राष्ट्रवाद होता है। स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिकता को भारत की आत्मा माना है। यह ‘युगों’ से भारतीय-मस्तिष्क का निर्णायक तत्त्व रहा है। यह जीवन-मूल्यों से जुड़ा हुआ है। यह इस देश तथा यहाँ के लोगों के जीवन को मोड़ने तथा दिशा देने का प्रमुख तत्त्व रहा है। भारतीय-जीवन का दार्शनिक-विवेचन तथा विश्लेषण, जैसे— कर्म का दर्शन, पुनर्जन्म का सिद्धान्त, आत्मा की अमरता तथा धर्म के बारे में पूर्ण स्वतन्त्रता, आध्यात्मिकता की ही उपज है। ये वैश्विक मूल्यों, अन्तर आस्थाओं के प्रति सहयोग तथा सभी सम्प्रदायों को सम्मान देती है।¹ वस्तुतः यह मानवीय संबंधों, मानवता के अस्तित्व तथा राष्ट्रीय एकत्व का साधन है।

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिकता को भारतीय-जीवन का ‘जीवन-रक्त’ माना है। वे लिखते हैं, ‘हमारा जीवन-रक्त आध्यात्मिकता है। यदि यह सीधे बहता है, यदि यह मज़बूती से बहता है और शुद्ध तथा बलवान् बनानेवाला है। प्रत्येक वस्तु ठीक है। राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक कमियों के होते हुए भी, यहाँ तक कि भूमि की कमी पर भी, सभी ठीक हो जाएगा यदि रक्त शुद्ध है.... यह वह भूमि है जहाँ आध्यात्मिकता तथा दर्शन की सम्पूर्ण लहरें बार-बार उठती हैं तथा विश्व की बड़ी बाढ़ लाती हैं, और यह भूमि है जिससे एक बार वही लहरें मानवता की पतनोन्मुख जातियों में जीवन को व्यवस्था तथा शक्ति देने वाली ऐसी लहरें पुनः उठेंगी।”²

सम्भवतः राष्ट्रवाद के उपर्युक्त विचार ने 20वीं शताब्दी के जर्मन-दार्शनिकों तथा समाजवेत्ताओं को भी प्रभावित किया। स्पेंगलर

1. वसुमिit डी. कुन्हा, ‘स्प्रीचुअल वेल्थूज़ इन ऐवरी डे लाइफ़’, द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, 9 फरवरी, 2004
2. (उद्धृत) कृष्णन पिल्लै, ‘आवर लाइफ़ ब्लड इज़ स्प्रीचुएलिटी’, द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, 20 जुलाई, 1997

(1880-1936) ने लिखा कि, 'राष्ट्र, न ही भाषा अथवा जीवविद्या (बायोलॉजिकल) हैं बल्कि आध्यात्मिक इकाइयाँ हैं और किसी राष्ट्र की दृढ़ता अधिक उसकी आत्मिक एकत्व से है न कि किसी अन्य तत्त्व से।'

इंग्लैण्ड के पूर्व प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड (1866-1937) ने भी स्वीकार किया तथा प्रशंसा की कि भारतीय 'भारत' की पूजा अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के कारण करते हैं।¹ परन्तु कुछ आधुनिक आलोचक भ्रमित हैं जो यह महसूस करते हैं कि भावात्मक तथा आध्यात्मिक का परस्पर संयोग अतीत के चिन्तन की पुनरुक्ति है। वे विद्यार्थियों के लिए आगे बढ़ानेवाला पाठ्यक्रम चाहते हैं। उन्हें लगता है कि भविष्य के लिए एक नया 'ब्लू प्रिंट' चाहिए। परन्तु यह एक सही पग नहीं है बल्कि एक दुःखद प्रक्रिया है जो भविष्य की ओर, बिना अतीत की ओर झाँके होगी।²

भाषा और साहित्य

अथर्ववेद के अनुसार भारतीय-राष्ट्र, भारतीय सन्तों, ऋषियों तथा विद्वानों की देन है। वैदिक साहित्य जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रकाश डालते हैं। विभिन्न भाषाओं, परम्पराओं, जातियों के होते हुए भी भारतीय-ऋषियों ने सुन्दर भविष्य के लिए समान भावनाएँ तथा आकांक्षाएँ व्यक्त की हैं। संस्कृत संसार की प्राचीनतम भाषा है³ जो अतुल आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक-ज्ञान का भण्डार है।⁴

संस्कृत भारत की महानतम सांस्कृतिक विरासत है। संस्कृत 19वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत को जोड़नेवाली एकता की कड़ियों में एक रही। यह भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को परस्पर मिलाने तथा संबंधों को बढ़ाने की शक्ति रही। यह समान विरासत तथा समान राष्ट्रीयता का प्रतीक रही।⁵ यह एक उच्च कोटि की अति श्रेष्ठ भाषा है, न केवल भारत में, बल्कि एशिया के एक बड़े

भाग की भी।¹ भारतीय-जन तथा सभ्यता संस्कृत की गोद में ही पली तथा ऐतिहासिक विकास में इसके साथ विकास हुआ तथा उनके उत्तम चिन्तन तथा संस्कृति के विश्लेषण को स्थान दिया, जो आज भी अमूल्य पैतृक सम्पत्ति के रूप में न केवल भारत को, बल्कि विश्व को प्राप्त है।²

इतना ही नहीं संस्कृत के द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक संबंध ग्रीक व लैटिन की बड़ी बहन के रूप में तथा आंग्ल, फ्रेंच तथा रशियन से चचेरी बहिन के रूप में स्थापित हुए।³

परन्तु संस्कृत की प्रगति में अवरोध का पहला प्रयत्न ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कानूनी सदस्य लॉर्ड मैकाले (1800-1859) ने 1835 ई. में अपनी 'शरारतपूर्ण शिक्षा-टिप्पणी' के द्वारा किया, जिसमें उसने संस्कृत को अस्वीकृत किया। उसने इस भाषा को न केवल लाभहीन तथा निष्फलदायी बतलाया बल्कि संस्कृत की व्याकरण को 'बेहूदा'⁴ कहा। उसने संस्कृत-संस्थाओं तथा संस्कृत के विद्वानों को अनुदान या छात्रवृत्तियाँ देने को 'रिश्वत' बतलाया। वस्तुतः यह भारत के मौलिक चिन्तन तथा भारतीय-संस्कृति, परम्पराओं तथा सांस्कृतिक भाषा पर सीधा प्रहार था।⁵

परन्तु उपर्युक्त घातक टिप्पणी के द्वारा संस्कृत को हटाने, विस्मृत अथवा अस्वीकार करने तथा स्कूलों तथा कॉलेजों में इसके अध्ययन को रोकने के पश्चात् भी, भारतीय-विद्वानों तथा नेताओं ने इसके अध्ययन तथा पाठन को सतत बनाए रखा। इसे भारत के अतीत के गौरव तथा सांस्कृतिक ज्ञान-भण्डार के रूप में देखा गया। इतना ही नहीं, विश्व के अनेक विद्वानों ने इसकी बौद्धिक समृद्धि तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण को सराहा।⁶ ऐसे वैदेशिक विद्वानों में प्रो फ्रेंज बोप्प (1791-1867), मि. ड्यूब्योस, विल्हेल्म वॉन हम्बोल्ट (1767-1835),

1. एच. वी. शोषाद्रि, 'राजनीति और राष्ट्रीय जीवन के आधारभूत मूल', *पाञ्चजन्य*, 15 सितम्बर, 1985
2. देखें, संपादकीय, *द टाइम्स ऑफ इण्डिया*, 14 अगस्त, 2001
3. देखें, *रिपोर्ट ऑफ द संस्कृत कमीशन* : 1956-1957 (भारत सरकार द्वारा स्थापित) (नयी दिल्ली, 1957), अध्याय चार
4. *वही*
5. *वही*

1. *रिपोर्ट ऑफ द संस्कृत कमीशन* : 1956-1957, पृ. 71
2. *वही*, पृ. 73
3. *वही*, पृ. 74
4. एस. सी. मित्तल, 'मैकाले की शिक्षा-नीति : एक विश्लेषण, *भारतीय-शिक्षा, परम्परा एवं वर्तमान सन्दर्भ*, पृ. 19
5. *वही*, पृ. 19
6. एन. सी. ई. आर. टी., *संस्कृत : द वोयेस ऑफ इण्डियाज़ एण्ड विज्डम* (नयी दिल्ली, 2001), पृ. 1

प्रो. आर्थर एंथोनी मैकडॉनेल (1854-1930), विल ड्यूरेन्ट (1885-1981) ने संस्कृत के प्रति तथा इसमें निहित ज्ञान के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। फ्रेडरिक मैक्समूलर (1823-1900)¹ ने 'संस्कृत को विश्व की महानतम भाषा' कहा। विल ड्यूरेन्ट ने संस्कृत को सभी यूरोपीय-भाषाओं की माता कहा।² प्रसिद्ध प्राच्यविद् सर विलियम जोन्स (1746-1794) ने सन् 1786 ई. में संस्कृत को ग्रीक से ज्यादा पूर्ण, लैटिन से ज्यादा प्रचुर तथा दोनों से उत्कृष्ट कहा और उसने इसकी महत्ता न केवल भारत, अपितु समस्त विश्व के लिए स्वीकार की है।³

भारतीय-चिंतकों तथा विचारकों, जैसे— स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती (1884-1883), श्रीअरविन्द, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, बालगंगाधर तिलक (1856-1920) ने भारतीय-राष्ट्र को, यहाँ की जनता को अपने अतीत के साहित्य तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से प्रेरित किया। उदाहरणतः श्रीअरविन्द ने संस्कृत-भाषा को बहुत उत्कृष्ट, बहुत पूर्ण, बहुत स्थायी तथा आश्चर्यजनक उपयुक्त साहित्यिक अस्त्र बतलाया जिसने मानव-मस्तिष्क को विकसित किया। स्वामी विवेकानन्द, जिन्हें 'आधुनिक भारतीय-राष्ट्रवाद का पिता' कहा जाता है, ने उपनिषदों तथा गीता को उत्तम तथा महानतम दर्शन बतलाया। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के माध्यम से विश्व में वेदों की महत्ता को बतलाया।

आधुनिक नेताओं— महात्मा गाँधी, पृ. जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) व डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891-1956) ने संस्कृत-भाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महात्मा गाँधी का मत था कि संस्कृत के अध्ययन के बिना कोई सच्चा भारतीय या सच्चा विद्वान् नहीं बन सकता है।⁴ पृ. जवाहरलाल नेहरू ने भी माना तथा लिखा⁵, 'यदि कोई मुझसे पूछे कि भारत के पास कौन-सा सबसे बड़ा खज़ाना है तथा कौन-सी सुन्दरतम विरासत है, मैं बिना हिचकिचाहट के कहूँगा कि यह संस्कृत-भाषा तथा उसका साहित्य है और इसमें जो निहित है, यह एक शानदार पैतृक धन है और जबतक यह हमारे लोगों के जीवन को दृढ़

1. संस्कृत : द वोयेस ऑफ़ इण्डियाज़ एण्ड विज्डम
2. वही
3. वही, पृ. 1, 9
4. वही, पृ. 2
5. वही, पृ. 2, 9, 34

रखता है तथा प्रभावित करता है तबतक भारत की अपूर्व बुद्धि को बनाए रखता है। यदि हमारी कौम बुद्ध को, उपनिषदों को व महाकाव्यों (रामायण तथा महाभारत) को भूल गई तो भारत, भारत नहीं रहेगा।'

यह एक ज्ञात तथ्य है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर उन व्यक्तियों में से थे जो भारतीय-संविधान की आधिकारिक भाषा संस्कृत बनाना चाहते थे।¹ सम्भवतः उन्होंने एक वक्तव्य भी दिया था कि संस्कृत स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिये।² उनके विचारों में संस्कृत आध्यात्मिक-वैज्ञानिक भाषा है और एक प्राचीन भाषा है, जिसका बहुत शुद्ध व्याकरण है।³ यहाँ यह लिखना महत्त्वपूर्ण होगा कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय, जो यहाँ एक रिट पेटिशन सन्तोष कुमार—विरोध—सचिव, मानव-संसाधन विभाग (1994(6) सुप्रीम कोर्ट 579) के संबंध में था, संस्कृत-भाषा के बारे में स्पष्ट रूप से कहा :⁴

'यह अच्छी तरह ज्ञात है कि संस्कृत सभी इण्डो-आर्यन भाषाओं की जननी है और यह भाषा है जिसमें हमारे वेदों, पुराणों तथा उपनिषदों को लिखा गया है और जिसमें कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट और दण्डी ने अपने उच्च कोटि के ग्रन्थों को लिखा। शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और वल्लभाचार्य की शिक्षाएँ भारतीय-संस्कृति के ताने-बाने में न बुनी जातीं, यदि संस्कृत उनके पास अपने विचारों को व्यक्त करने को न प्राप्त होती।''

अतः संक्षेप में संस्कृत-भाषा तथा भारत का प्राचीन साहित्य युगों से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अमूल्य अस्त्र रहे हैं। यह संस्कृत-भाषा ही है कि जिसके द्वारा भारतीय-सभ्यता का विकास, भारतीय जीवन-मूल्यों की महानता, मानवी भावों का सार, वैदिक काल से वर्तमान काल तक इसकी अभिव्यक्ति द्वारा समझा जा सकता है। इसका ज्ञान न केवल भारत को, बल्कि मुख्य विश्व की जानकारी

1. संस्कृत : द वोयेस ऑफ़ इण्डियाज़ एण्ड विज्डम, पृ. 3
2. वही, पृ. 4
3. वही, पृ. 4
4. उच्चतम न्यायालय का निर्णय, रिपोर्ट 1994 (6) सेक्शन 579, पैरा 11) देखें, जस्टिस एम. रामा ज्वायस, हिंदुत्व : आवर कल्चरल नेशनलिज्म एण्ड वेल्थूज़ ऑफ़ लाईफ़ (दिल्ली, 1996), पृ. 6; विस्तार के लिए द वोयेस ऑफ़ इण्डियन सोल एण्ड विज्डम, पृ. 30-36

के लिए आवश्यक है।

आर्थिक समृद्धि तथा विचार

वैदिक साहित्य में 'अर्थ' को चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है। यद्यपि यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् धर्म तथा मोक्ष के अंतर्गत, दोनों ओर से नियन्त्रित किया गया है। अर्थ को मानव के व्यक्तित्व के विकास में एक मुख्य स्तम्भ माना गया है। परन्तु इसको सर्वोच्च नहीं माना है बल्कि इसको व्यक्ति, समाज और विश्व के दृष्टिकोण से, परस्पर संबंधों के द्वारा आकलन किया है।

शुक्लयजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद् में भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में आर्थिक चिन्तन का सामाजिक आधार दिया है। उक्त प्रसिद्ध उपनिषद् के पहले ही मन्त्र में कहा गया है—

‘ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥’¹

यदि इस मन्त्र के अन्तिम शब्दों से प्रारम्भ करें तो इसके आर्थिक चिन्तन में पाँच मूल बातें कही गई हैं—²

1. कस्य स्विद्धनम्
2. मा गृधः
3. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथां
4. जगत्यां जगत्
5. ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किं च

उपर्युक्त मन्त्र में पाँच महत्वपूर्ण प्रश्नों को स्पष्ट किया है। प्रथम है— 'कस्य स्विद्धनम्' अर्थात् धन का स्वामी कौन है? सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण के पश्चात् यह स्वीकार किया गया कि प्रजापति या प्रजा का रक्षक धन का स्वामी है यानि 'प्रजापते स्विद्धनम्'। यदि धन का स्वामी प्रजा का रक्षक नहीं है तो वह धन का स्वामी नहीं हो सकता।

दूसरे यह कहा है कि 'मा गृधः' यानि मनुष्य को धन का लोभी नहीं

होना चाहिए। विचार है कि मनुष्य उतना ही धन व्यय करना चाहिए जो आवश्यक हो। इसमें 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त को आग्रहपूर्वक कहा गया है। अतः धनसंग्रह या जमाखोरी को एक अपराध या अवगुण माना है। इसी कारण हिंदू-संस्कृति में दान की महिमा बतलाई गई है।

तीसरा है, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् त्यागमूलक उपभोग करो। अर्थात् व्यक्ति को जितना उसके विकास के लिए आवश्यक है, उससे अधिक कुछ न ले। महात्मा गाँधी¹ ने इस उपभोग या उपयोग को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हुए इसपर दो मर्यादाएँ बनाई हैं— 'एक तो त्याग या भागवत के शब्दों में 'सर्वम् श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। भागवत-धर्म के प्रत्येक अनुयायी को प्रतिदिन प्रातःकाल अपने समस्त विचार, शब्द तथा कर्म (मनसा, वाचा, कर्मणा) ईश्वर को अर्पित करने का आदेश है..... जब उसने त्याग और अर्पण का यह कार्य सम्पन्न कर दिया हो, तो उसके पुरस्कारस्वरूप उस हद तक भोजन, जल, वस्त्र और आवास के उपभोग का अधिकार प्राप्त हो जाता है जिस हद तक ये चीजें उसके दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। उपभोग या उपयोग त्याग का पुरस्कार है।' बौद्ध-मत में 'अल्प व्यय-अल्प सञ्चय' का सिद्धान्त भी व्यवहार में यही बात बतलाता है।

चौथे, 'जगत्यां जगत्' में समाज को व्यक्ति से अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें व्यक्ति के साथ उसके सामाजिक पक्ष को प्रमुखता से माना गया है।

पाँचवें, 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च' में कहा गया है कि जो भी प्राप्य है, वह ईश्वरप्रदत्त है। अतः सर्वत्र ईश्वर की सत्ता व्याप्त है। कोई भी वस्तु उसके शासन की परिधि से बाहर नहीं है। अतः इस अवधारणा से स्वभावतः इस मन्त्र के शेष भाग फलित होते हैं।

संक्षेप में सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में अर्थ को यथेष्ट महत्ता दी गई है। यह व्यक्ति और समाज से संबंधित, धन पर ईश्वर की सत्ता या स्वामित्व तथा अपरिग्रह व दान को महत्त्व देता है।

गाँधी जी का विचार है² कि 'इस छोटे-से मन्त्र में जो सत्य समाया है,

1. शुक्लयजुर्वेद, 40.1; ईशावास्योपनिषद्, 1

2. विस्तार के लिए क्षीतीश वेदालंकार (संपादित), सातवलेकर-अभिनन्दन-ग्रन्थ (दिल्ली, प्रकाशन-वर्ष मुद्रित नहीं), देखें, सातवलेकर के विचार, पृ 119-131

1. मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सम्पूर्ण गाँधी-वाङ्मय, खण्ड 64, पृ 294-297; देखें 30 जनवरी, 1937 को गाँधी जी का भाषण, हरिजन (अंग्रेज़ी) 30 जनवरी, 1937

2. वही, देखें, सार्वजनिक सभा, कोट्टयम में भाषण, 30 जनवरी 1937, पृ 322-324

वह प्रत्येक मनुष्य की इहलौकिक और पारलौकिक— दोनों तरह की ऊँची-से-ऊँची आकांक्षाओं को तृप्त कर सकता है। संसार के धर्मग्रन्थों में सत्य की खोज करते हुए मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसे इस मन्त्र में जोड़ने की ज़रूरत हो। किसी प्राचीन वाङ्मय में धर्म, अर्थ, काम को व्यवस्थित रखने के लिए सन्तुलित मार्ग अपनाने का सुझाव दिया गया है और कहा गया है—

‘धर्मार्थ कामाः समं एव सेव्यकाः।

यः एक सेवी स नरो जघन्यः ॥’

पतञ्जलि के योगसूत्र में दस यम-नियम बतलाए गए हैं जिसमें पाँच व्यक्ति के लिए तथा पाँच समाज के लिए हैं। व्यक्ति के लिये पाँच नियम हैं— ‘शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः’¹ अर्थात् यह पाँच यम (नियम) हैं स्वच्छता, सन्तोष, शारीरिक क्षमता, स्वाध्याय तथा ईश्वर-भक्ति। समाज तथा जनजीवन के पाँच नियम बताए हैं— ‘अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः’² अर्थात् अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा संग्रह न करना। अतः प्रजा के लिए संग्रह न करना। अतः प्रजा के लिए संग्रह को पूरी तरह से निषेध किया है जो आर्थिक चिन्तन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में विराट् पुरुष का वर्णन किया गया है—

‘ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिश्च सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याश्च शूद्रो अजायत ॥’³

विराट् पुरुष के हजारों सिर, आँखें, पैर भूमि के अन्दर तथा बाहर बतलाए गए हैं। उसके मुख, हाथों, उदर तथा पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति दी गई है। वस्तुतः विराट् पुरुष जीवन को विश्वव्यापी देता है। यह विश्वव्यापी अथवा सनातन धर्म का दृष्टिकोण प्रकट करता है। समाज को व्यवसाय की दृष्टि से चार भागों— बुद्धिमान (ब्राह्मणों), राजनीतिज्ञों, प्रशासकों तथा सैनिकों (क्षत्रियों), किसानों, व्यापारियों, उद्योग करनेवालों (वैश्यों)

तथा शिल्पकारों, कर्मचारियों, अनिपुण श्रमिकों (शूद्रों) में बाँटा गया है। इसमें न कोई ऊँचा है या निम्न, न बड़ा और न छोटा है। प्रत्येक मानव की पहचान उसके व्यवसाय से है, जो गुण तथा कर्म पर (गुणकर्मनुसार) आधारित है। यह जन्म पर आधारित नहीं है। एक परिवार में विभिन्न व्यवसायों के व्यक्ति हो सकते हैं। उदाहरणतः जबाल ऋषि अपने जन्म से नहीं जाने जाते। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे परन्तु वे ब्राह्मण के रूप में जाने जाते हैं।

विराट् पुरुष के विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक चिन्तन समष्टि का ही एक रूप था, उसमें किसी प्रकार का अलगावपन न था। यह पूर्णतः धर्म पर आधारित था तथा इसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति था।

कालान्तर में भी भारत के अनेक संतों, ऋषियों ने भारत के आर्थिक चिन्तन के विकास का विस्तृत रूप से विचार किया है। इसके विविध पहलुओं पर चर्चा की है। तत्संबंधी प्रमुख विद्वानों में नारद, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, वेदव्यास, भीष्म, कौटिल्य, जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य तथा कात्यायन को ले सकते हैं।

कौटिल्य¹ ने चार प्रसिद्ध विद्याओं में अर्थशास्त्र को भी एक माना है। उन्होंने लिखा है—

‘आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च इति विद्या।’

अतः उनके लिए दर्शन, वेद, अर्थशास्त्र तथा जन-प्रशासन महत्त्वपूर्ण विद्याएँ हैं।

इसी भाँति जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य के विचार हैं कि प्राचीन काल में इसे ‘अर्थमीमांसा’ या ‘वार्ताशास्त्र’ कहते थे। वार्ताशास्त्र के बारे में शंकराचार्य ने लिखा है—

‘कुसीदकृषिवाणिज्यं गोरक्षा वार्ता उच्यते।’

1. योगसूत्र, 2.32

2. वही, 2.30

3. ऋग्वेद, 10.90.1, 11

1. अर्थशास्त्र, 2.1; बजरंगलाल गुप्ता : हिंदू-अर्थचिन्तन (नागपुर, 5100 युगाब्द) पृ 7; प्राचीन भारतीय अर्थचिन्तन की प्रासंगिकता, विश्व संवाद केन्द्र पत्रिका, 52वाँ शताब्दी-अंक 1(2) (लखनऊ, 1999), पृ 44

2. वही, पृ 44

उनके अनुसार कर, कृषि, व्यापार तथा गऊ (जानवरों) की रक्षा वार्ता के भाग थे। संक्षेप में भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में 'अर्थ', धर्म या नैतिकता पर आधारित रहा है। इसका उद्देश्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा समाज अथवा राष्ट्र का कल्याण रहा। इसका अन्तिम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष-प्राप्ति रहा।

राजनीतिक चिन्तन : शक्ति का विकेन्द्रीकरण

भारतीय-चिन्तन में यह विचार महत्त्व का है कि भारत में प्रगति का पथ, राष्ट्रीय एकात्मकता का बोध या राष्ट्रवाद की भावना का आधार कभी भी राजनीतिक तत्व नहीं बल्कि सामाजिक सांस्कृतिक चेतना रही। गाँधी जी¹ का कथन है कि यह हिंदू-धर्म का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य है कि वह कोई सत्तारोपित मत नहीं है। उन्होंने² यह भी कहा कि मेरे समीप धर्म-शून्य राजनीति कोई वस्तु नहीं है। राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्मविहीन राजनीति तो फाँसी ही समझी जाए क्योंकि उसमें आत्मा मर जाती है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत ने सदैव धर्म को महत्त्व दिया है। भारत में राजनीति अथवा राष्ट्रनीति का आधार कभी भी राजसत्ता नहीं रही। हाँ, धर्म और राजनीति का परस्पर सहयोग अवश्य रहा। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के इस कथन में पर्याप्त बल है कि जीवन का अधिक-से-अधिक क्षेत्र राजसत्ता से जिस प्रकार बचाया जा सकता है, इसके उपाय पारिवारिक जीवन की पद्धति में पाए जाते हैं। राजनीति को जीवन के सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने का अधिकार भारत में कभी भी किसी को नहीं दिया गया। व्यवस्था की धुरी केन्द्रीयकरण नहीं, विकेन्द्रीयकरण रहा। जीवन के अनेक दायरों में राज्य को एक ऊपरी तथा कम महत्त्व का दायरा माना गया। यदि जीवन के विभिन्न दायरे बनाए जाएँ तो महत्त्व की दृष्टि से क्रमशः आत्मा, बुद्धि, हृदय, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन तथा राजनैतिक जीवन आते हैं।³

प्राचीन काल में भारत में राजनीति में धर्म की प्रमुखता थी। धर्म द्वारा

1. सम्पूर्ण गाँधी-वाङ्मय, खण्ड 23 : 24 अप्रैल 1924, पृ. 516-518
2. वही, 03 अप्रैल 1924, पृ. 373; यंग इण्डिया, 3 अप्रैल 1924
3. विस्तार के लिये देखें, सतीश चन्द्र मिश्र, 'धर्ममय राजनीति इस देश की परम्परा', पाञ्चजन्य, 16 मार्च 1986

राष्ट्र की रक्षा होती थी। यह कहा जाता था—

‘न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥’¹

प्राचीन काल से भारत में राज्यों के राष्ट्र की अवधारणा रही है। प्राचीन भारत में कुछ अवसरों को छोड़कर (मौर्य तथा गुप्तकाल) भारत में अनेक राज्य विभिन्न स्वरूपों में रहे। कभी इन्हें 'जनपद', कहीं 'महाजनपद' कहा गया। कहीं इनके स्वरूप एक राज्य के तो कहीं गणराज्य के रहे। परन्तु धर्म का स्वरूप एक-सा रहा जिससे सामाजिक व्यवस्था सुचारु बनी रही। भारत में कुछ पाश्चात्य देशों की भाँति एकतन्त्र या सामन्तवाद कभी नहीं रहा। राज्यों की यह व्यवस्था वेदों के काल से देखी जा सकती है। एक आधुनिक लेखक के अनुसार²—

‘भारतीयों ने भी, शताब्दियों से विभिन्न राज्य-व्यवस्थाओं के प्रयोग किये। मौर्य तथा मुगल राज्य दोनों में कोई समानता न थी सिवाय इसके कि वे राज्य थे, या पूर्व आधुनिक यूरोपीय राज्य-व्यवस्था में भी। केवल कोई मूर्ख या अर्द्धशिक्षित व्याख्याकार उन्हें (राज्यों को) यूरोप के प्राचीन राजव्यवस्था में विभक्त कर सकता है तथा उन्हें निरंकुश कह सकता है। मुगल शासन-व्यवस्था ऐसी शालीन थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 75 वर्षों तक मोटे रूप से इसके स्वरूप को अपनाया। अनेक यह नहीं जानते कि सन् 1757 ई. में अंग्रेजों ने प्लासी की लड़ाई जीती, परन्तु लगभग 1830 ई. तक, ब्रिटिश-क़ानून भारत में नहीं प्रारम्भ किए गये.... आधुनिक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था, औपनिवेशिक राज्य को प्रभावित करने तथा इसे स्वरूप देने के लिए 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रारम्भ की गई।’

उपर्युक्त व्यवस्था का समर्थन सर्वोच्च न्यायालय में 1984 ई. के एक मुकदमे में किया गया।³

‘भारत के इतिहास की अतीत की शताब्दियों से यह तथ्य ज्ञात होता है

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 59.14 (गीताप्रेस-संस्करण)
2. आशीष नन्दी, 'डिप्रेसिंग प्रोगनोसिस रीडिफाइनिंग इण्डियन स्टेट', द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, 15 मई 1995
3. जस्टिस एमू रामा ज्वायस, वही, पृ. 3, प्रदीप जैन बनाम भारत सरकार (एआरआर 1984, एस् सी 1420)

कि भारत कभी भी एक राजनैतिक इकाई न रहा। यहाँ तक कि मौर्य-काल में, यद्यपि देश का अधिकतर भाग मौर्य-राजाओं की प्रभुसत्ता में था, भूमि का पर्याप्त भाग स्वतन्त्र राज्यों के अधीन था। इसी भाँति मुगल-शासन भारत के विशाल भागों में फैला, उस समय भी स्वतन्त्र शासक थे जिनकी अपने राज्यों की भूमि पर राजनैतिक प्रभुता थी। यह भारतीय-इतिहास का एक रोचक सत्य है कि भारत एक राष्ट्र था जो न समान भाषा और न ही एक राजकीय व्यवस्था पर अस्तित्व में था बल्कि शताब्दियों से विकसित समान संस्कृति के कारण था।'

यह सही है कि भारत कभी राजनीतिक इकाई नहीं रहा। परन्तु यह कहना ग़लत होगा कि भारतीयों ने राजनीति की दृष्टि से एक करने की कोशिश नहीं की। वस्तुतः यह एक महान् महत्वाकांक्षा बनी रही कि भारत सुदृढ़ राजनीतिक दृष्टि से भी बने। अश्वमेध-यज्ञों का आयोजन इन प्रयत्नों के उदाहरण हैं। चक्रवर्ती सम्राट् बनने के प्रयत्न निरन्तर होते रहे। इतिहास में पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त, पुलकेशि II (609-642) इत्यादि के प्रयत्न इसी प्रकार के थे। सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में राज्य कभी भी कोई सर्वोच्च संगठन या अन्य संगठनों में प्रमुख संगठन न था। कोई भी राजनैतिक सत्ता आधुनिक अर्थों में न निरंकुश थी और न ही फासिस्ट। वे धर्म या कर्तव्य के नियमों से बंधे हुए थे।

अतः संक्षेप में भारतीय जीवन-दर्शन में राष्ट्र के प्रति सर्वोच्च भावात्मक निष्ठा, पूर्ण समर्पण की भावना, भूमि के प्रति अटूट प्रेम तथा इसके सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। पूर्ण आस्था, श्रद्धा की भावना रखते हुए इसे निरन्तर सुदृढ़, प्रखर तथा गौरवशाली बनाए रखने की कामना की गई है।

अध्याय-दो प्राचीनकाल में भारतीय-राष्ट्रवाद का विकास

भारतीय-राष्ट्रवाद का चिन्तन तथा विकास, भारतीय-इतिहास की एक अत्यन्त रोमाञ्चकारी, हृदयस्पर्शी तथा गौरवपूर्ण यशगाथा है। जब विश्व में सभ्यता का प्रारम्भ हुआ, तब भारत ने अपने को विश्व के प्राचीनतम राष्ट्रों में खड़ा पाया। विश्व का पहला ग्रन्थ ऋग्वेद यहाँ लिखा गया जो पहले हजारों वर्षों तक ऋषि-परिवारों के द्वारा कण्ठस्थ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा। हजारों वर्षों बाद महर्षि वेदव्यास ने वेद को चारों वेदों में व्यवस्थित किया। वैदिक साहित्य में भारत-राष्ट्र के विकास का अद्वितीय वर्णन है। यह वह काल था जब न ईसामसीह का जन्म हुआ था और न इस्लाम का अता-पता था। प्रायः ईसाई तथा इस्लामी-जगत् में अपने रिलीजन या मज़हब के पूर्व के काल को 'अन्धकारमय' बताया गया। इतना ही नहीं, ईसा के हजारों वर्ष बाद तक अनेक यूरोपीय-राष्ट्रों का जन्म भी न हुआ था तथा इंग्लैण्ड-सरीखा राष्ट्र यूरोप के अन्य राष्ट्रों की तरह अत्यन्त जंगली तथा पिछड़ा हुआ था। एक आधुनिकतम खोज के अनुसार वहाँ के शाही परिवार के लोग अठारहवीं शती के अन्त तक नरमांस खाते रहे।' अतः अधिकतर यूरोपीय-राष्ट्रों का जीवन अत्यन्त कष्टमय तथा असुविधापूर्ण था।

भारतीय-राष्ट्रवाद के विकास को जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश प्रशासकों तथा ईसाई-मिशनरियों की मनगढ़न्त कल्पनाओं को भुला दें। हमें उनके पूर्वाग्रहों से मुक्त होना होगा। सर विलियम जोन्स, चार्ल्स ग्रांट (1746-1823), विलियम विल्बरफोर्स

1. रिचर्ड सग्न : ममीज, केनीबल्स एण्ड एम्पायरर्स : द हिस्ट्री ऑफ़ कॉर्प्स मेडिसीन फ्रॉम द रिनेस्सेन्स टू द विक्टोरियन्स (लन्दन, 2011)

(1759-1823), जेम्स मिल (1773-1836), लॉर्ड मैकाले तथा उनके मानस पुत्रों द्वारा प्रचारित भ्रामक तथा प्रमाणरहित 'कुप्रयासों' तथा 'कुप्रचारों' को विस्मृत करना होगा। भारत में शासन करने तथा बनाए रखने के लिए उन्होंने अनेक झूठी तथा गपोड़ गाथाओं को जोड़ दिया है ताकि भारतीयों में हीन भावना पैदा हो। उन्होंने कुछ सौ वर्षों के पाश्चात्य इतिहास-क्रम में हजारों सालों पूर्व के भारत के विकसित इतिहासक्रम को अपने ढंग से देखा जो सर्वथा अवाञ्छित, निन्दनीय तथा हास्यास्पद है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश विद्वानों ने भारत के प्राचीन राष्ट्र में निरंकुश तंत्र (मोनार्की) तथा सामन्तशाही (फ्युडिलिज़्म) को देखा जो सर्वथा अप्रमाणित तथा अमान्य है। इसी भाँति उन्होंने 'रिलीजन' का अनुवाद 'धर्म' के रूप में किया जो सर्वथा ग़लत है। भारत का प्राचीन 'राष्ट्र' या यूरोप-प्रचलित शब्द 'नेशन' भी समानार्थक शब्द नहीं हैं। वस्तुतः पाश्चात्य देशों में राष्ट्रीयता के मनोवैज्ञानिक अवयव एक जैसे नहीं हैं। अलग-अलग देशों का विकास अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग कारणों से हुआ। अतः उनमें भी गुणात्मक अन्तर है।

भारत को विश्व का पुरातन तथा सनातन राष्ट्र माना जाता है। यह वह काल था जब विश्व की अनेक सभ्यताओं का जन्म भी नहीं हुआ था। पाश्चात्य जगत् में, यूरोप का प्राचीनतम देश यूनान भी अपनी अहंकारपूर्ण वाणी में अपनी सभ्यता का प्रारम्भ 4004 ई. पू. मानता है। ईसाई-पादरी भी सृष्टि की उत्पत्ति भी 4004 ई. पू. कहते हैं। यह वह काल था जब भारत में अनेक राज्य विकसित हो गए थे।

भारत विश्व का एक प्राचीन राष्ट्र है जिसका जन्म तथा निर्माण एकाएक किसी राजनीतिज्ञ या धर्मयुद्ध से नहीं हुआ, बल्कि इसकी स्वनिर्मिति हुई।

वेद में राष्ट्रवाद

वेदों के एक महान् भाष्यकार के शब्दों में 'वेद मानव जाति के आदिग्रन्थ हैं। वेद प्राचीनतम आर्य संस्कृति की प्राचीनतम ज्ञानराशि हैं। वे विश्व के लिए सर्वकालिक मार्गदर्शक दीप-स्तम्भ हैं।'¹

1. ऋग्वेद (हिंदी-अनुवादक : आचार्य डॉ. ओम प्रकाश वर्मा, सहारनपुर, 2008), प्रस्तावना, पृ. 1

निःसन्देह वैदिक साहित्य, विश्व के इतिहास में मानव की अमूल्य धरोहर हैं जिसमें मानव-जीवन के आदर्शों, जीवन-मूल्यों तथा जीवन-प्रणाली का आदर्श प्रस्तुत किया है। वैदिक साहित्य में सामान्यतः चार वेद— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, 6 वेदांग, 6 दर्शन तथा 4 उपवेद आते हैं। महात्मा बुद्ध से पूर्व काल में साहित्य की दृष्टि से इसे छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल कहा गया है।¹

वैदिक साहित्य के विभिन्न मन्त्रों में एक वैभवसंपन्न, सुदृढ़ तथा उन्नत राष्ट्र का वर्णन है। विश्व में 'राष्ट्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है। आदर्श राष्ट्र-जीवन की संकल्पना में व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन का बोध तथा आदर्श गुणों का वर्णन किया गया। इसमें स्थान-स्थान पर राष्ट्र-पुरुषों, राजाओं, सेनापतियों, विद्वानों, सभी को श्रेष्ठतम गुणों की वृद्धि तथा उनका कर्तव्य-बोध कराया गया है। राजा हो अथवा प्रजा— सभी का राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों की पूर्ति का आह्वान है, न कि अधिकारों के अहंकारों की अभिव्यक्ति का।

यदि वेदों के कुछ मन्त्रों का ही अवलोकन करें तो राष्ट्रवाद का सर्वकल्याणकारी बोध होता है। वेदों में आदर्श मानव समाज-रचना का वर्णन है जिसका आधार समाजोन्मुख परिवार को बतलाया गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अन्तिम 191वें सूक्त में समूचे राष्ट्र-संगठन के मन्त्र को बतलाया गया है। इसमें कहा गया है—

‘सं गच्छध्वं सं वदध्वं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागँ यथा पूर्वे सथ्जानाना उपासते ॥’²

हे मनुष्यो! सब मिलकर चलो, मिलकर बोलो और मिलकर मानसिक उन्नति करो। तुम्हारे मन मिले हुए एकता के भाव से हों। जिस प्रकार पूर्व विद्वान् अपने-अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करके विचारपूर्वक परमेश्वर की उपासना करते थे।

‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥’³

1. ऋग्वेद (हिंदी-अनुवादक : आचार्य डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, सहारनपुर, 2008), प्रस्तावना, पृ. 5

2. ऋग्वेद, 10.191.2

3. वही, 10.191.3

अर्थात्, 'विचार समान हों, सभा-समितियाँ, सामूहिक जीवन की गतिविधियाँ समान हों, मन समान हो और चित्त, सहयोगी और समान हो। परमेश्वर सबको समान विचारोंवाले और समान वस्तुओं और पदार्थों से युक्त तथा समान यज्ञीय भावना से ओतप्रोत करे।'

ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है—

‘समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥’¹

अर्थात्, 'सबकी संकल्प-शक्ति और हृदय समान हों। सबके मन समान हों, जिससे सब परस्पर मिलकर सुखपूर्वक रहें।'

संक्षेप में एक ऐसे सशक्त राष्ट्र की कल्पना की गई जहाँ केवल कुछ गिने-चुने तत्त्वों में ही एकरूपता तथा समानता न हो बल्कि राष्ट्र के सदस्यों के मन, चित्त, हृदय— सभी समान विचारों से ओतप्रोत हों तथा समाज-जीवन में सभी एक-दूसरे के सहायक तथा सहयोगी हों।

इसी भाँति यजुर्वेद में भी सभी प्रकार के मानवीय गुणों की अभिवृद्धि करते हुए राष्ट्र को उन्नत करने को कहा गया—

‘आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायातामा राष्ट्रे राजन्य

शूरऽइषव्योतिवयाधी महारथो जायतान्दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः

सपतिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवावस्य यजमानस्य वीरो

जायतान्निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः

पच्यन्ताँयोगक्षेमो न कल्पताम्।’²

अर्थात्, हे परमेश्वर! इस राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस से युक्त ब्राह्मण उत्पन्न हों। पराक्रमी, शस्त्रविद्या में पारंगत, शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले महारथी शूरवीर राजपुरुष उत्पन्न हों। दुधारू गायें, उत्तम भारवाहक बैल और वेगवान् घोड़े प्राप्त हों। स्त्रियाँ कार्यकुशल और शीलवती हों। विजयशील, शत्रुहन्ता, सभ्य, उत्तम रथी और याज्ञिक युवा वीर यहाँ उत्पन्न हों, मेघ इच्छानुकूल वर्षा करें और औषधियों (वृक्ष और लताएँ) पके हुए फलों से युक्त हों और हमें सब अभिलाषित पदार्थ प्राप्त हो

1. ऋग्वेद, 10.191.4

2. शुक्लयजुर्वेद, 22.22

तथा सब प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रहें। ऐसे आदर्श राष्ट्र के निर्माण के लिए ज्ञान, बल और शारीरिक बल की आवश्यकता है।

यजुर्वेद में 'राष्ट्र-यज्ञ' की भी चर्चा की है तथा राजा में अनेक गुणों की आवश्यकता पर बल दिया है। उदाहरणतः पाँचवें अध्याय में उसे राक्षसवृत्तियों का, विघ्नों को, शत्रुओं का गला काटने को कहा गया है।¹ राष्ट्र के शासक को 'प्रजा की पीठ का आधार' तथा 'विद्वानों का आश्रय' बतलाया गया है।² उसे मंगल कार्यों से युक्त होकर और सिंहासन पर बैठकर न्यायपूर्वक कार्य करने को कहा गया है।³ अतः स्थान-स्थान पर शासक को कर्तव्य-बोध कराया है, अधिकार का नहीं।

सामवेद में भी राष्ट्रनायक अथवा शासक व सेनापति के कर्तव्यों का बार-बार बोध कराया गया है। 19वें अध्याय में कहा गया—

‘यद्युजाये वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम्।

अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि ॥’⁴

अर्थात्, 'हे राजा और सेनापति! आप जब विजयश्री करनेवाले युद्धरत को जोतते हैं तो हमारे राष्ट्र को घृतादि मधुर पदार्थों से परिपूर्ण करते हैं। हमारी सेनाओं को अन्नादि पदार्थों और तेज-बल से पुष्ट कर दो, जिससे हम युद्धों में विजयी होकर धन प्राप्त करें।

सामवेद में बार-बार युद्धों में जाने तथा संग्राम में विजय प्राप्त करने की आकांक्षा जताई गई है।⁵

अथर्ववेद राष्ट्रोत्थान की सर्वोत्तम कृति मानी जाती है। मातृभूमि के प्रति इतनी प्रगाढ़ भक्ति की अभिव्यक्ति विश्व के किसी भी ग्रन्थ में दुर्लभ है। इसे राष्ट्रनिर्माण का ग्रन्थ माना गया है। राष्ट्र कैसा हो? राजा प्रजा के संबंध, विभिन्न अधिकारियों के कर्तव्यों का विमोचन इसमें किया गया है।

अथर्ववेद के एक पूरे अध्याय (12वाँ काण्ड) के प्रथम 63 मन्त्र तो

1. शुक्लयजुर्वेद, 5.22

2. वही, 11.29

3. वही, 12.17

4. सामवेद, 19.2

5. वही, 21.14

राष्ट्रभावना को पूर्णतः समर्पित हैं। इस प्रथम सूक्त को 'पृथिवीसूक्त' अथवा 'भूमिसूक्त' भी कहा गया है। इसका प्रत्येक मन्त्र राष्ट्र की जागृत भावना का द्योतक है। यह राष्ट्र-वन्दना का मधुरतम संगीत है जो हृदयंगम करनेवाला है।

वेदों में राजा को पृथिवी या राष्ट्र का शासक या पालक नहीं बतलाया है। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य देशों में या इस्लामी देशों में शासक को निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी वर्णित किया गया है। वर्तमान काल में कुछ देशों में उसे राष्ट्राध्यक्ष, राष्ट्रपिता, राष्ट्र-संस्थापक कहा है न कि 'राष्ट्र का पुत्र' या सेवक कहा गया है। वस्तुतः यह ही उसकी सम्मानजनक, सर्वश्रेष्ठ उपाधि है। *अथर्ववेद* में राजा के अनेक कर्तव्य बतलाए गए हैं।

अथर्ववेद में पृथिवीमाता या मातृभूमि अथवा राष्ट्रमाता के प्रति कर्तव्यों का विश्लेषण अत्यन्त संक्षेप में किया है। पृथिवीसूक्त के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है—

**‘सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥’¹**

अर्थात्, 'सत्यनिष्ठा, परम सत्य व्यवस्था, तेजयुक्त दक्षता, तप और साधना, ब्रह्म-ज्ञान तथा याज्ञिक व्यवहार पृथिवी को धारण करनेवाले तत्त्व हैं। भूतकाल और भविष्य में भी सबका पालन करनेवाली मातृभूमि हमें विस्तृत स्थान प्रदान करे।'।

यह पृथिवी न केवल भूतकाल या भविष्यजनों को व्यक्त करती है, बल्कि वर्तमान में समस्त राष्ट्रजनों की चिन्ता करती है।

दूसरे मन्त्र में कहा है—

**‘असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्य उद्वतः प्रवत समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रयतां राध्यतां नः ॥’²**

अर्थात्, जिस भूमि के ऊँचे-नीचे और समतल, अनेक स्थानों पर रहनेवाले मनुष्यों की विविधता में भी एकता है और जो अनेक शक्तिवर्धक औषधियों से भरी है, वह पृथिवी हमें विस्तृत स्थान दे और हमारे अन्न-धन और यश में वृद्धि करे।

1. अथर्ववेद, 12.1.1
2. वही, 12.1.2

इसी भाँति अन्नादि खाद्य-पदार्थ तथा कृषि-उत्पाद विपुल मात्रा में प्रदान करनेवाली मातृभूमि की वन्दना की गई है।¹

‘जिस भूमि पर अतीत काल में पूर्वजों ने अनेक पराक्रमयुक्त कार्य सम्पन्न किए हैं, जिसमें दैवी शक्तियों ने आसुरी शक्तियों को पराजित किया है, जो गायों, घोड़ों तथा विभिन्न उपयोगी पशु-पक्षियों का आश्रय-स्थल रही है, वह पृथिवी माता हमें ऐश्वर्य, तेज और बल प्रदान करे।’²

‘पृथिवी माता का सबको निवास देनेवाली, स्वर्ण की छातीवाली (स्वर्ण-खानों से युक्त) विशाल भूमि, जिसकी रक्षा दिव्य पुरुषों ने जाग्रत, सतर्क तथा प्रमादरहित होकर की, जिसका हृदय परम व्योम में अमृत से आवृत रहता है, जहाँ दिन-रात जलधाराएँ बहती तथा परिव्राजक संन्यासी रात-दिन निरन्तर प्रजाओं को सदुपदेश देते हैं तथा सूर्य व चन्द्रमा दिन-रात चकर लगाते हैं तथा जहाँ हिमाच्छादित पर्वत-शिखर तथा सुखदायी वन हैं, उस माता के आशीर्वाद की हम याचना करते हैं।’³

12वें मन्त्र में राष्ट्रजनों ने अपना पृथिवी से नाता बतलाते हुए कहा—

**‘यते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥’⁴**

अर्थात्, ‘हे पृथिवी! तेरे मध्य भाग, केन्द्रीय स्थल या नाभि तथा तेरे शरीर से जिन ऊर्जादायक पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उनमें हमें स्थापित रख और हमें पवित्र कर। भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। मेघ हमारे पिता के नाते हमारी तृप्ति करें। पृथिवी के नित्य यज्ञों की भूमि तथा उसके मन्त्रों को यज्ञघोष, दुष्टों का दमन व सज्जनों की रक्षक, पञ्चतत्त्वों व पाँच प्रकार के (विद्वान्, वीर, व्यापारी, शिल्पी तथा सेवारत) मनुष्य की रक्षक, मधुरवाणी तथा सब प्रकार की अन्न-औषधियों को देनेवाली माता के प्रति हम सब प्रकार की सेवा करें।’⁵ एक

1. अथर्ववेद, 12.1.3-4
2. वही, 12.1.5
3. वही, 12.1.6-11
4. वही, 12.1.12
5. वही, 12.1.13-17 के विभिन्न मन्त्र

मन्त्र में माँगा है कि अग्नि हमें प्रकाशमान करे।¹ इसी भाँति पृथिवी माता से निवेदन किया गया है कि माता अनेक औषधियों तथा जल से उत्पन्न विभिन्न सुगन्ध से सुरभित करें।²

एक मन्त्र में कहा गया है—

‘उदीराणा उतासीन नास्तिष्ठन्तः प्रकामन्तः।

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥’³

अर्थात्, ‘हम अपने दाहिने और बायें पैरों से भूमि पर बैठते, खड़े होते और चलते-फिरते कभी न डगमगायें, दुखी न हों, विचलित न हों। प्रजाजन ने पृथिवी माता से शरीर की स्वच्छता और स्वास्थ्य के लिए शुद्ध जल, विचरण के लिए सुखदायी दिशाएँ, तथा कल्याणकारी मार्गों की कामना की है।⁴ एक मन्त्र में मातृभूमि की सभी छः ऋतुओं में पूर्णायु तक सुख की कामना की गई है।⁵

मन्त्र 41 में भारत की विभिन्नता में एकता का दर्शन कराते हुए कहा गया है—

‘यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या यै लबाः।

युध्यन्ते यस्मामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥’⁶

अर्थात्, ‘जिस भूमि पर विविध भाषाओं और बोलियों में मनुष्य गाते और नाचते हैं; जिसपर शूरवीर, हुंकारों के साथ युद्ध करते हैं; जिसपर युद्ध-दुन्दुभि बजती है, वह भूमि हमारे शत्रुओं को दूर भगा दे और शत्रुरहित कर दे।’

जहाँ कई मन्त्रों में वन्य पशु, मृग, सिंह, बाघ और नरभक्षी पशु तथा ऊदबिलाव, भेड़िये, भालू आदि हिंस्र पशु से रक्षा की कामना की गई है,⁷ वहीं विलासी पुरुष और स्त्रियों, जो अनर्गल बोलनेवाले, जो कंजूस या ओछे मनुष्य हैं

1. अथर्ववेद, 12.1.19-21

2. वही, 12.1.23-26

3. वही, 12.1.28

4. वही, 12.1.30-32

5. वही, 12.1.36

6. वही, 12.1.41

7. वही, 12.1.50

उन सब राक्षसों और पिशाचों से भी रक्षा की कामना की है।¹

पृथिवीमाता के प्रति उदात्त भाव प्रकट करते ही यह भी कहा गया है—

‘ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥’²

अर्थात्, ‘हे मातृभूमि! जो ग्राम, नगर, वन, सभा-समितियाँ, युद्ध अथवा वार्ता या चर्चा के स्थान हैं, उन सब स्थानों पर हम तेरा यशोगान करें।’

मातृभूमि से सब कामनाएँ पूरी करने की बात करते हुए इस पृथिवी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में कहा गया है—

‘भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठिम्।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूम्याम् ॥’⁴

अर्थात्, ‘हे मातृभूमि! मुझे कल्याण के साथ उत्तम प्रतिष्ठा प्रदान कर। हे सृजनशील। मुझे प्रकाश से संयुक्त, प्रशंसायुक्त सम्पत्ति और विभूति प्रदान कर।’

वेदों से उद्धृत उपर्युक्त पवित्र मन्त्रों के आधार पर राष्ट्रमाता का स्वरूप तथा वैशिष्ट्य अति संक्षेप में समझा जा सकता है। पृथिवीमाता-रूपी भारत-राष्ट्र की अनन्त-अमूल्य देन को इस माता का पुत्र भूल सकता है? इसके पुत्रों में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की सन्तति जुड़ी है। भारतीयों के लिए यह केवल कोई भूमि का निर्जीव टुकड़ा नहीं है बल्कि श्रेष्ठतम जननी है। माँ का यही यशोगान आदि से वर्तमान तक भारतीय जन करते आए हैं जो विश्व के किसी भी अन्य भाग में दुर्लभ तथा अप्राप्य है।

भारत-राष्ट्र का विकास

भारत के प्रसिद्ध विचारक श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी (1920-2004) ने अनेक वर्षों के अनुसन्धान तथा कठोर परिश्रम के पश्चात् प्राचीन भारत से भारत-राष्ट्र की कहानी को देने का प्रयत्न किया है।⁵ यदि इसकी विवेचना अथर्ववेद से लें, तो

1. अथर्ववेद, 12.1.51

2. वही, 12.1.56

3. वही, 12.1.62

4. वही, 12.1.63

5. दत्तोपन्त ठेंगड़ी, ‘एक सम्पूर्ण राष्ट्र की संकल्पना, पाञ्चजन्य, 13 अप्रैल, 1986, पृ 50-51; दत्तोपन्त ठेंगड़ी, संकेत रेखा (नयी दिल्ली, 1981), पृ 139-150

ज्ञात होता है कि बिल्कुल प्रारम्भ में व्यक्ति थे पर कोई संस्था न थी। वे व्यक्ति भी भिन्न-भिन्न वृत्ति, प्रवृत्ति, वैशिष्ट्यों तथा कर्मों से युक्त थे।

‘जनं बिभ्रती बहुधा विकाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥’¹

अर्थात्, विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले, विभिन्न धर्मों अर्थात् स्वभाव-धर्म के लोगों को, विभिन्न प्रकारों से एक ही मकान में रहनेवाले एक परिवार के लोगों के समान जो धारणा करती है, वह हमारी मातृभूमि बिना हिचकिचाहट दूध देनेवाली गाय के समान धन की सहस्रों धाराएँ हमें प्रदान करे। अलग अलग व्यक्ति थे।

अथर्ववेद के अनुसार सर्वप्रथम ‘विवाह’ संस्था तथा ‘परिवार’ संस्था का निर्माण हुआ। इसके मुखिया गृहपति का निर्माण हुआ। अगली अवस्था में पुनः विकास-क्रम में आवासीय व्यवस्था हुई, जहाँ एक क्षेत्र में रहनेवाले सब परिवारों के व्यक्ति इकट्ठे होकर सामूहिक कार्य, यज्ञ तथा विचार-विमर्श करने लगे। अगली विकास की अवस्था में ग्राम बने, ग्रामसभाएँ बनीं। इसी क्रमिक विकास में राष्ट्र-समिति बनी, जिसके सदस्यों को ‘आमन्त्रित परिषद्’ कहा गया। इससे मंत्रिमण्डल बने। इसके पश्चात् विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का भारत में निर्माण हुआ। पाश्चात्य जगत् की सोच के विपरीत सभी जगह एक ही प्रकार की शासन-प्रणाली का निर्माण न हुआ।

विभिन्न कालों में, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग शासन-प्रणालियाँ बनीं। भारत के प्राचीन काल में लगभग एक दर्जन शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, ऐसा कहा गया है—

‘...साम्राज्यभौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यम्पारमेष्ठ्यं राज्यम्माहाराज्यमाधिपत्यमयं

समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सा-र्वायुष आन्तादा पररार्धात्पृथिव्यै

समुद्रपर्यन्ताया एकराळ...।’²

अतः भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था रही। परन्तु इनका निर्माण किसी राजकुमार या महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ द्वारा नहीं हुआ। इसके निर्माता आत्मज्ञानी ऋषि थे। ‘राजनीति का व्याख्याता राजा

अर्थात् सत्ता को न मानकर उस ऋषि को माना गया जो नगर से दूर गुरुकुल में रहकर केवल मनन, चिन्तन और निधिध्यासन में निमग्न रहकर लोकहित की ही चिन्ता किया करता था। ऐसे ऋषि के लिए राष्ट्र अर्थात् राष्ट्रभाव की रक्षा का प्रथम स्थान था।’ अतः इसीलिए भारत को ऋषि-मनीषियों की भूमि कहा जाता है। भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग शासन-व्यवस्था होते हुए भी मातृभूमि के प्रति प्रेम तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की समरसता, इन ऋषि-मुनियों के द्वारा बनाए नियमों के द्वारा रखी गई थी। अतः भारत में विभिन्नता में एकता के एक चमत्कारिक गुण का विकास सदा बना रहा।

गणतन्त्र बने, एकतन्त्र भी स्थापित हुए; लेकिन सभी पर धर्म का अंकुश रहा। भारत में राजतन्त्र, पाश्चात्य ‘मोनार्की’ (Monarchy)-जैसे न थे। सम्भवतः पाश्चात्य विद्वानों की यह मानसिकता ओटोमन-साम्राज्य के तुर्की के शासन को देखकर बनी हो। बाद में परकीयों के आगमन पर भारत की शासन-व्यवस्था में भी दोष आये।

अथर्ववेद के अनुसार किसी भी राजा के बनने पर उसको कर्तव्यों का ज्ञान तथा बोध कराया जाता था। राज्याभिषेक के समय राजा को जनता कहती थी, ‘हम तुझे यहाँ लाए हैं। भीतर आ जाओ, स्थिर रहो। अस्थिर, चंचल नहीं बनना। तुझे अध्यक्ष के स्थान पर रखने की इच्छा सभी प्रजाजनों में रहे। राष्ट्र तेरे द्वारा अधःपतित न हो।’¹

राजा को यह भी कहा गया कि ‘तेरे कारण राष्ट्र भ्रष्ट न हो। सब दिशाओं में रहनेवाले प्रजाजन एकमत से तुझे राजा पद की इच्छा रखें। तेरे राज्यपद के स्थित रखने में यह राष्ट्र-समिति समर्थ हो।’

समाज में सर्वोच्च सत्ता, धर्मदण्ड और नैतिक नेताओं से नियन्त्रित थी। अतः राजा अपने कर्तव्यों से बँधा था। अनियन्त्रित राजा, अत्याचारी अथवा भ्रष्ट शासक के लिए जनता का यह ‘कर्तव्य’ होता था कि वह उसे हटा दे या पागल कुत्ते की तरह मार दे।

राजा की प्रजा के सुख की घोषणा-संबंधी उद्देश्य करने पर ही उसे राज्यपद दिया जाता था। पहले राजा का निर्वाचन होता था, परन्तु बाद में यह

1. अथर्ववेद, 12.1.45

2. ऐतरेयब्राह्मण, 8.39.15

1. अथर्ववेद 6.88.3; देखें लेख, नरेन्द्र मोहन, ‘राष्ट्रीयता की पहचान के आधार’, दैनिक जागरण, 16 फरवरी, 2003

पैतृक बन गया था।

भगवद्गीता के 'राजयोग' में विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जनमत को महत्त्व न देने से राजा को हटाया गया। राजा प्रजापति को राष्ट्र-समिति के अपमान करने के प्रयास के कारण हटाया गया। प्रसिद्ध वेन राजा को जनविरोधी व्यवहार के कारण राजपद से हटाया गया।

अतः भारत में विभिन्न प्रदेशों में कई प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। राजतन्त्र भी उनमें से एक था। परन्तु इसका स्वरूप कभी भी पाश्चात्य देशों की भाँति स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश न रहा।

भारत में राष्ट्रवाद के विकासक्रम को जानने के लिए यह भी ज्ञात होना ज़रूरी है कि भारत ने कभी भी पाश्चात्य राष्ट्र-राज्य के विचार को भी स्वीकार नहीं किया, अपितु इसके विपरीत उसने राज्यों के राष्ट्र के सिद्धान्त को व्यवहार में अपनाया। कभी भी राजनीति राष्ट्र का सर्वोच्च तत्त्व न होकर सदैव सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की दासी रही।

वैदिक काल से वर्तमान तक भारत में सैकड़ों राज्यों की उत्पत्ति, विकास तथा पतन हुआ। कभी गणराज्य बने, तो कभी एकराज्य। कभी छोटे-छोटे जनपद तो कभी बड़े-बड़े महाजनपद। राम, कृष्ण, महावीर तथा बुद्ध— सभी के कालों में, अनेक राज्यों में उत्थान-पतन हुए, परन्तु समूचा भारत एकराष्ट्र रहा। इसपर न कभी प्रश्नचिह्न लगा और न ही किसी ने अलग राष्ट्रीय पहचान का विचार किया।

भारत में राष्ट्र की परिकल्पना सांस्कृतिक है, जबकि पाश्चात्य जगत् में यह राजनैतिक है। परन्तु यदि हम भारत में राजनीतिक इतिहास तथा इसके संगठन की ओर देखें तो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी विविधता स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। ऋग्वेद के अनुसार आर्यों को सप्तसिंधु प्रदेश का बताया गया है और वहाँ से वे पूर्व और दक्षिण की ओर गये थे जहाँ कई राज्य थे। इनके संस्थापक इक्ष्वाकु, प्रांशु, सद्युम्न और शर्याति थे जिन्हें मनु-पुत्र कहा जाता है। इन्हीं के वंशजों में प्रसिद्ध शासक पुरुरवा, नहुष, ययाति आदि हुए थे।¹

इसी भाँति उत्तर-वैदिककाल के प्रमुख राज्य गान्धार, केकय, मद्र, कुरु,

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखें राधाकृष्ण चौधरी, *प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास* (पृ. सं. 1967, परिवर्तित सप्तम सं. 1998, पटना), पृ. 48-50

पाञ्चाल, काशी, कलिङ्ग, अश्मक, मूलक, विदर्भ, कोशल, विदेह, मगध, विन्ध्य-मेखला और उसके दक्षिण में पुंड्र, शविर, पुलिनन्द, मुषिक आदि जातियाँ थीं।¹

शासन का स्वरूप एक-सा न था। एक विद्वान् के अनुसार², 'प्राची दिशा में मगध, विदेह, कलिङ्ग आदि में साम्राज्य के अभिषेक होते थे और वहाँ के राजा सम्राट् कहलाते थे। इस प्रकार दक्षिण दिशा में 'सत्त्वत्' (यादव) थे। इन लोगों में भौज्य राज्य-संस्था थी और वहाँ के प्रमुख शासक 'भोज' कहलाते थे। प्रतीची (पश्चिम) में नीच्य और अपाच्य लोगों में (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर) स्वराज्य राज्य-संस्था थी और वहाँ के राजा 'स्वराट्' कहलाते थे। उदीची दिशा में हिमालय के परे उत्तरकुरु और उत्तरमद्रों के जो जनपद थे, वहाँ वैराज्य-प्रणाली थी। वे विराट-राजहीन जनपद थे। ध्रुवा-मध्यमा-प्रतिष्ठा दिशा में (अन्तर्वेद) कुरु-पाञ्चाल-वंश और उशीनगर (पूर्वोत्तर पंजाब) लोगों में राज्य की प्रथा थी, वहाँ के राजा ठीक राजा थे और यही कहलाते थे। मध्यप्रदेश और प्राची के सिवा सभी जगह एक राज्य की प्रणाली नहीं थी। पंजाब से बराबर-महाराष्ट्र तक संघ-राज्यों की एक मेखला थी।'³

प्राचीन साहित्य में सूत्र-साहित्य, *रामायण*, *महाभारत* आदि अनेक श्रेष्ठ ग्रंथ, तत्कालीन राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं। सूत्र-साहित्य में पाणिनि की *अष्टाध्यायी* तत्कालीन राज्यों का वर्णन प्रस्तुत करती है।⁴ इस ग्रन्थ में मध्येशिया से कलिङ्ग तक तथा सौवीर से असम तक के क्षेत्रों का वर्णन मिलता है। उस समय भी राजतन्त्र तथा गणराज्य— दोनों ही राज्य-प्रणालियाँ थीं। इसी भाँति *महाभारत* के शान्तिपर्व में इसका विशद विवेचन है।

वैदिक काल से ही राजनीतिक संगठनों का विकास हो गया था। उत्तर वैदिक काल में जनपदों का विकास हुआ।¹ जनपद मूलतः एक सांस्कृतिक इकाई

1. राधाकृष्ण चौधरी, *प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास*, पृ. 48

2. वही, पृ. 54

3. विस्तार के लिए देखें, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, *पाणिनिकालीन भारत*

4. जनपदों के विकास के लिए देखें, डॉ. दिनकर मुकुट वागह, *हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ़ इण्डिया* (पूना, 2000), पृ. 88-100

है।¹ जनपद अथवा समुदाय परस्पर पर्यायवाची हैं। पाणिनि ने ग्रामीण समुदायों को जनपद अर्थात् एक विशिष्ट भूभाग तथा विभिन्न दल के लोगों के समूह को जनपद कहा है।² महाभारत के पश्चात् अनेक छोटे-छोटे जनपद बन गए थे जिनको कालान्तर में मिलाकर महाजनपदों का निर्माण हुआ।

प्राचीन ग्रन्थों में अनेक जनपदों, समुदायों का वर्णन है, *महाभारत*³ में भारत के 250 जनपदों की सूची दी गई है, पुराण-साहित्य के 'भुवनकोश' में इन जनपदों की संख्या 175 बतलाई गई है।⁴ डॉ. एस. एल. अली⁵ ने पुराणों के अनुसार इनको भौगोलिक आधार पर क्रमबद्ध किया है, तब सम्पूर्ण देश को सात क्षेत्रों में बाँटा है तथा उत्तर-पश्चिम क्षेत्र को 'उदित्य क्षेत्र' कहा है।⁶ उसने पंजाब के मैदानी क्षेत्र में गांधार, सामिका, जगदूर, कैकेय, जाङ्गल, मद्रक आदि जनपद बतलाए हैं। पाणिनि ने अपनी *अष्टाध्यायी* में 55 जनपदों की चर्चा की है। बौद्ध तथा जैन-ग्रन्थों में 16 महाजनपदों का वर्णन है।

छठी शताब्दी ई. पू. के ऐसे सोलह महाजनपदों के नाम हैं— अंग, मगध, काशी, कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, सत्व, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, सूरसेन, असम, अवन्तिका, गान्धार तथा कम्बोज। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे जनपद भी थे।

वस्तुतः इन जनपदों के क्रमिक विकास का वर्णन अभी भी अनुसन्धान का विषय है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में गान्धार तथा कम्बोज महाजनपद थे। पाणिनि ने पंजाब-क्षेत्र में मालव, क्षुद्रक, अर्जुनायन, कुनीन्द व यौधेय गणराज्य का वर्णन किया है। इनमें से कुछ गणराज्य तो दूसरी शताब्दी ई. पू. से चौथी शताब्दी ई. तक रहे। विद्वानों ने प्राप्त सिक्कों के आधार पर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाया है।⁷ मालवा तथा यौधेय गणराज्य के

1. महामहोपाध्याय पृ. सिद्धेश्वरनाथ शास्त्री 'चित्राव', *प्राचीन भारतीय स्थलकोश*, भाग एक (पूना, 1969), पृ. 63
2. *वही*, पृ. 63
3. *महाभारत*, भीष्मपर्व
4. महामहोपाध्याय पृ. सिद्धेश्वरनाथ शास्त्री 'चित्राव', पूर्वोद्धृत, पृ. 66
5. डॉ. एस. एल. अली, *द ज्योग्राफी ऑफ़ द पुराणस* (नयी दिल्ली, 1966), पृ. 163-169
6. *वही*
7. मनमोहन कुमार, अध्यक्षीय भाषण (प्राचीन पंजाब), पंजाब हिस्ट्री कांफ्रेंस, 29वाँ सम्मेलन (पटियाला, 1997)

अतिरिक्त शेष की जानकारी अभी शेष है।

ईरानियों तथा यूनानियों के आक्रमण

भारत-राष्ट्र के विकास-क्रम में ईरानी तथा यूनानी-आक्रमणों ने बाधा डाली। बोगाज़कोई-अभिलेख (1400 ई. पू.)¹ ईरान तथा भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के प्राचीन काल में संबंधों का उल्लेख करता है। भारत सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंधों से पहले से ही जुड़ा था। उत्तर-पश्चिम क्षेत्र से आक्रमण के रूप में सर्वप्रथम ईरानी थे। यह आक्रमण हख़ामनी-वंश का संस्थापक तथा प्रथम शासक कुरुश (सायरस द्वितीय : 550-529 ई. पू.) था। इस काल में पुष्कसती गान्धार क्षेत्र का स्वामी था तथा उसका प्रभाव-क्षेत्र काश्मीर से मुल्तान तथा सिंध से रावी तक था।² ईरान के राजा ने पुष्कसती से कुछ मदद मांगी, परन्तु उसने धोखे से उसका कुछ भाग हड़प लिया था। जब पुष्कसती ने अपने क्षेत्र से कब्ज़ा हटाने के लिए सेनाएँ भेजी, तब ईरानियों ने भी दो ओर से सेनाएँ भेजकर आक्रमण किया। पहली सेना गेडरीशिया के मार्ग से गई जो बुरी तरह परास्त हुई तथा ईरान के कुल सात सिपाही शेष बचे थे।³ दूसरी सेना परापरामिस्टे के मार्ग से गई थी जिसे आंशिक सफलता मिली थी। इसने अफ़ग़ानिस्तान के कपीसा (वर्तमान वेग्राम) पर अधिकार कर लिया था। इसका बदला मस्सगेटे तथा दारवा के व्यक्तियों ने कुछ हाथियों की सेना भेजकर किया। संघर्ष में एक भारतीय गजसवार ने सायरस

1. बोगाज़कोई, उत्तर-मध्य तुर्की-स्थित एक गाँव, जो तुर्की की राजधानी अंकारा से 90 मील (145 किमी.) पूर्व में स्थित है, पुरातात्विक महत्त्व का है, जहाँ उत्खनन में मन्दिर, नगर-द्वार और दीवालें मिली हैं जिन्हें शक्तिशाली हित्ती-राजवंश (16वीं-12वीं शती ई. पू.) के साथ सम्बद्ध किया गया है और बाद में यूनानी-इतिहासकार हेरोडोटस (484-425) ने भी इसका वर्णन किया है। यहाँ 19वीं-20वीं शती में अनेक उत्खननों में लगभग 25,000 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो हित्ती-राजाओं की समाजार्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, वैधानिक स्थिति तथा पड़ोसी-देशों के साथ उनके संबंधों पर प्रकाश डालते हैं। चौदहवीं शती ई. पू. के बोगाज़कोई-अभिलेख में मितन्नी राजा मत्तिवाज (1350-1320) और हित्ती-राजा सुप्पिलुइउमा (1350-1322) के मध्य हुई सन्धि के सन्दर्भ में वैदिक-देवताओं, यथा— इन्द्र, मित्र, वरुण, नासत्य (अश्विनीकुमार) आदि को साक्षी के रूप में दिखाया गया है।
2. डॉ. बुद्धप्रकाश, *गिल्मसैजेज ऑफ़ एंशियंट पंजाब* (पटियाला, 1966), पृ. 5
3. *स्ट्रबॉस ज्योग्राफी* (अंग्रेजी अनुवाद : हेमिल्टन एवं फालकानर), 15वाँ भाग, पृ. 5

की जंघा पर प्रहारकर उसे मार दिया था।¹ इतना ही नहीं, मस्सगेटे की रानी टोमीरिस (लगभग 530 ई. पू.) ने सायरस के 12,000 घुडसवारों और 6,000 पैदल सैनिकों को भी पराजित किया था।² भारत के सैनिकों द्वारा विदेशियों के विरुद्ध यह पहली विजय थी।

ईरान का चौथे शासक डेरियस प्रथम (522-486 ई. पू.) के काल में गान्धार तथा सिंधु का कुछ भाग, ईरान के साम्राज्य का भाग थे। ये जानकारी बहिलुल तथा परसीपोल्स-अभिलेखों द्वारा प्राप्त होती है। हेरीडोटस ने इस भूभाग को विशाल जनसंख्या तथा ईरान को सर्वाधिक कर देनेवाला बताया है। यह लगभग समस्त ईरान के एशियाई प्रान्तों का 1/3 था। इससे प्राप्त आय 360 स्वर्ण टैलेंट थी जो लगभग एक मिलियन स्टर्लिंग के बराबर थी।³ ईरान के 20 प्रान्तों में गान्धार को सातवाँ सिंधु के कुछ भाग को 20वाँ प्रान्त बतलाया गया है।

इसी दौरान ईरानियों के यूनानियों के साथ भी संघर्ष चलते रहे। फिलिप्स (359-336 ई. पू.) मेसीडोनिया का शासक बना, जिसकी हत्याकर महत्वाकांक्षी सिकन्दर (336-323 ई. पू.) शासक बना था जिसने ईरान के अन्तिम शासक डेरियस तृतीय (336-330 ई. पू.) को पराजितकर ईरान पर कब्जा कर भारत की ओर बढ़ा।

ईरानियों के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के भूभाग पर आक्रमण करने से भारत में राष्ट्रीयता की जड़ें कमजोर नहीं हुईं, बल्कि सुदृढ़ हुईं। भारत राजनीतिक उदासीनता से जागा। राजनीतिक एकता की कमजोरी के ज्ञान से शीघ्र एकता तथा संगठन की भावना तीव्र हुई।⁴ संस्कृति, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, भाषा, लिपि तथा कला के क्षेत्र में ईरानियों ने भारत से बहुत सीखा। भारतीय सामान मिस्र तथा यूनान तक पहुँचने लगा। धर्म तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था तथा श्रद्धा सुदृढ़ हुई। हाँ, इससे भारत के शासन-प्रणाली का गणतन्त्रीय स्वरूप अवश्य प्रभावित हुआ। शासनतन्त्र में एक विशिष्ट केन्द्रीय नौकरशाही तत्त्वों का

समावेश हुआ।¹ गान्धार की राजधानी तक्षशिला इन नवविचारों का केन्द्र बनी। नागरिक-अधिकारियों का नकद वेतन, निपुण गुप्तचर-विभाग, क्षेत्राधिकारियों के नियमित दौरे आदि व्यवस्थाओं का समावेश हुआ। संगठित ईरानी-साम्राज्य को देखकर भारत में भी उस प्रकार की इच्छा जागी। साम्राज्य व प्रशासन में प्रान्तीय शासन-व्यवस्था प्रारम्भ हुई और प्रान्तों को क्षेत्रपी कहा गया तथा यहाँ के शासनाधिकारी को क्षेत्रप। इसका आंशिक प्रभाव विश्वप्रसिद्ध विद्वान् कौटिल्य के *अर्थशास्त्र*-जैसे ग्रन्थ में दिखाई देता है।

भारत के उत्तर-पश्चिम का क्षेत्र पितृहन्ता सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ही भारत की संस्कृति, दर्शन, विज्ञान तथा चिकित्सा-प्रणाली से भली-भाँति परिचित था। ईरानियों के आक्रमण के दौरान भारत के इस क्षेत्र में यूनानियों की कई बस्तियाँ बस गई थीं। इसमें कपीसा (बेग्राम) तथा निन्यास प्रसिद्ध थी जो काबुल के उत्तरी किनारे पर थी। सिकन्दर के आक्रमण से पहले ही यूनानी-दार्शनिक सुकरात (469-399 ई. पू.), अफलातून (प्लेटो : 428-347 ई. पू.), अरस्तु (384-322 ई. पू.) भारतीय-दर्शन, विज्ञान तथा विशेषकर चिकित्सा-प्रणाली से बड़े प्रभावित थे। मैक्समूलर ने सुकरात से एक भारतीय-विद्वान् की भेंट का भावपूर्ण चित्रण किया है। अरस्तु ने भी सिकन्दर को आक्रमण से पूर्व भारत के बारे में कुछ जानकारी दी थी, यद्यपि उसका भारत के बारे में ज्ञान अधिकतर था।

क्रूर, अन्धविश्वासी, वहमी, ज्योतिषियों पर अत्यधिक विश्वास रखनेवाला सिकन्दर 334 ई. पू. येब्स कबीले से संघर्ष करता, नृशंस हत्याकाण्ड करते हुए, हैलिसपेंट नामक स्थान से पारकर ईरान पहुँचा तथा डेरियस तृतीय को पराजितकर उसकी हत्या करवाकर, भारत की ओर बढ़ा था। अटक के उस पार ही कुवार की घाटी तथा चित्रल नदी पर वह पहली बार कन्धे पर चोट लगने से घायल हुआ था।² बाजौर में हत्याकाण्ड करते हुए मस्सग पहुँचा, जहाँ वह दूसरी बार घायल हुआ था।³

1. सीटीसायस, *प्रशा* (अनुवाद गिलमौर), पृ. 133-135; डॉ. बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ. 6
2. *हिदायती कुकश कबीर* (फ़ारसी में) अध्याय 12वाँ, उद्धृत, डॉ. बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ. 6
3. डॉ. बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ. 10
4. *वही*, पृ. 17

1. डॉ. बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ. 17
2. डॉ. डी. सी. सरकार, *ईरानियन्स एण्ड ग्रीक्स इन एशियाई पंजाब* (पटियाला, 1973), पृ. 20
3. *वही*, पृ. 21

326 ई पू अटक से 16 मील दूर ओहिंद नामक स्थान को पारकर वह पंजाब के मैदानी इलाकों तक पहुँचा था। धोखे से झेलम नदी पार उसका संघर्ष पंजाब के राजा पुरु (330 ई पू) से हुआ था। इस युद्ध में सिकन्दर को आंशिक सफलता मिली, परन्तु उसके सैनिकों का हौसला खत्म हो गया था। रोमन-इतिहासकार एरियन (92-175 ई) के अनुसार इस युद्ध के पश्चात् पुरु का राज्य पहले से अधिक विस्तृत हो गया था।¹ यूनानी-इतिहासकार प्लूटार्क (46-120 ई) के अनुसार इस संघर्ष में मेसीडोनिया के सैनिकों की वीर भावनाएँ त्रस्त हो गई थीं तथा वे आगे बढ़ने को तैयार न थे।² भारत की विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय चरित्र का उत्कृष्ट उदाहरण उस समय दिखलाई देता है जहाँ मातृभूमि की रक्षा के लिए वे एकजुट हो गयीं। परस्पर का भेद भुलाकर वे राष्ट्र के शत्रु से संघर्ष करने को तत्पर हो गयीं। एक उल्लेखनीय उदाहरण मालव व क्षूद्रक राज्य का है जब पहले से चली आई लड़ाई को भूलकर, हज़ारों की संख्या में उन्होंने परस्पर विवाह-संबंध जोड़े। मालवों पर परकीय आक्रमणकारी सिकन्दर ने भयंकर आक्रमण किया। अनेक मालव मारे गये। अनेक ने अपने को अग्नि के हवाले कर दिया। बचे-खुचों ने पुनः शक्ति प्राप्तकर नदी के पार मोर्चाबन्दी की। यहाँ सिकन्दर तीसरी बार घायल हुआ³ तथा खून से लथपथ हुआ। बड़ी मुश्किल से उसके कुछ सैनिक मूर्च्छावस्था में उसे बचा सके। अन्ततोगत्वा सिकन्दर को मालवों के साथ युद्ध-विराम करना पड़ा। युद्ध-विराम के लिए लगभग 100 मालव-प्रतिनिधियों का सिकन्दर ने एक विशाल कक्ष में स्वागत किया। यूनानी-इतिहासकारों ने इस स्वागत का विस्तृत वर्णन किया है। यूनानी-इतिहासकार डियोडोरस (90-30 ई पू) के अनुसार मालवों ने सिकन्दर की भगोड़ी सेना में रुकावट न डालने का आश्वासन दिया। अतः सिकन्दर की विश्वविजय की आकांक्षाएँ लिए हुए सेनाएँ केवल व्यास नदी तक ही पहुँची। उन्होंने आगे बढ़ने से इंकार कर दिया।⁴ वस्तुतः यह विश्व के इतिहास में अनूठे

1. डॉ बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ 28

2. प्लूटार्क, *लाइफ ऑफ एलेक्जेंडर*, उसके अनुवादित शब्द हैं— 'The Battle with Porus depressed the spirits of the Macedonians, and made them very unwilling to advance farther into India...; *द क्लासिकल एकाउंट्स ऑफ इण्डिया*, पृ 198

3. डॉ डी सी सरकार, पूर्वोद्धृत, पृ 30

4. डॉ बुद्धप्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ 28

ढंग की हड़ताल थी। इतिहास में अनेक सैनिक-बगावतें, विद्रोहों को तो सुना था परन्तु विश्व के इतिहास में सैनिकों की ऐसी दयनीय दशा पहले कभी न सुनी और न पढ़ी थी। तीन दिन तक सिकन्दर अपने सैनिकों को मनाता रहा। उसे कहना पड़ा कि इन बहरे कानवालों पर (सैनिकों पर) कोई असर नहीं हो रहा है। अतः उसने सेना की वापसी की घोषणा की, सिकन्दर को निराश तथा हताश लौटना पड़ा। उसने व्यास के किनारे 12 खम्भे यूनान के 12 देवताओं के नाम पर खड़े किये। यूनानी-ढंग से देवताओं को बलि दी गयी। ये खम्भे सिकन्दर के वापिस होते ही व्यास नदी में फेंक दिए गये।¹

सिकन्दर की वापसी भी सरल व सहज न थी। पंजाब के दक्षिण-पश्चिम के क्षेत्र में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इनकी संख्या 20-25 थी। ये प्रायः सभी गणराज्य थे। इनमें प्रमुख अश्वक, उरसा, अभिसर, गलुचुक्यन, आद्रिज, सौभूति, मगल, अगलोसाय, अम्बष्ठ, पटल, शाम्ब, मूर्षिक आदि थे। उनसे किसी प्रकार जान बचाता, सिकन्दर सिंध के मुहाने पहुँचा। उसने अपनी सेनाओं को दो भागों में बाँटा। एक समुद्री मार्ग से तथा दूसरी बलूचिस्तान के रास्ते स्थल-मार्ग से सेनाओं को भेजा। तीसरी बार घायल हुए घाव के ठीक न होने पर 323 वर्ष ई पू बेबीलोन में उसकी मृत्यु हुई। संक्षेप में वह यूरोप (यूनान) में जन्मा, एशिया (भारत) में संघर्ष किया तथा बेबीलोन (अफ्रीका) में मर गया, अपने घर वापिस न पहुँच सका।

ईरानियों की भाँति सिकन्दर के आक्रमण का भारत में कोई स्थायी प्रभाव न हुआ। ब्रिटिश इतिहासकार विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ (1843-1920)² ने भी माना है कि उसके भारत से जाने के तीन वर्ष के काल में उसके सभी अधिकारी हटा दिये गये, उसकी सेनाएँ नष्ट हो गईं तथा उसके शासकीय प्रान्तों का भी कोई भी चिह्न नहीं रहा।

इसके विपरीत अनेक छोटे-छोटे राज्यों की समाप्ति से भारत में विशाल राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।³ देश की राजनीति में एकता तथा दृढ़ता स्थापित हुई। साथ ही भारत के जल तथा थल-व्यापार को प्रोत्साहन

1. डॉ डी सी सरकार, पूर्वोद्धृत, पृ 26

2. वी ए स्मिथ, *द अल्टी हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* (1924 का संस्करण), पृ 117

3. आरु सी मजूमदार, *द क्लासिकल अकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया*, पृ 193

मिला। भारतीय-धर्म तथा संस्कृति यूनानियों से प्रभावित न हुई बल्कि इसके विपरीत यूनानियों पर प्रभाव पड़ा। बाद में मेनाण्डर (165-130 ई पू)-जैसे यूनानी ने हिंदू-धर्म अपना लिया था। पायथागोरस (570-495 ई पू) के सिद्धान्त पर भारतीय-शुल्बसूत्र का प्रभाव दिखता है। तक्षशिला की शिक्षा-पद्धति ने यूनानियों को प्रभावित किया। ऐसा माना जाता है¹ कि सिकन्दर यूनान में खेती-बाड़ी करने के लिए भारत से ढाई लाख बैल तथा बड़े-बड़े बेड़े तथा नौकाएँ बनाने के लिए अनेक बढ़ई तथा लुहार ले गया। सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव केवल इस तथ्य से जाना जा सकता है कि भारत के किसी भी लेखक ने उसके बारे में एक भी पंक्ति नहीं लिखी।

भारत-राष्ट्र एवं मौर्य-शासक

मौर्य-शासकों के इतिहास को भारत-राष्ट्र का एक स्वर्णिम पृष्ठ कहा जा सकता है। जबकि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को खदेड़कर भारत की सीमाएँ अफगानिस्तान तक पुनः स्थापित कीं। इसी काल में कौटिल्य तथा सम्राट् अशोक— ये दो विश्व-विख्यात विभूतियाँ हुई। एक ने विश्व को शासन-व्यवस्था के अद्भुत पाठ पढ़ाए जो बाद में मैकियावेली (1469-1527) के 'प्रिंस' (1532) के रूप में तथा बिस्मार्क (1815-1898) के लिए मार्गदर्शक-तत्त्व बने। इसी भाँति सम्राट् अशोक ने विश्वव्यापी भारतीय-संस्कृति की सहिष्णुता, उदारता तथा स्वतन्त्र चिन्तन का विश्व को सन्देश दिया। भारतीय-विद्वान्, धर्मवेत्ताओं, भारतीय-संस्कृति, धर्म, दर्शन के प्रचारार्थ भारत के समीपवर्ती देशों में गये तथा बौद्ध-धर्म एक विश्वव्यापी धर्म बन गया।

मौर्यवंश का प्रथम शासक चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का पहला राष्ट्रीय शासक कहा जाता है। यह इसलिए कहा गया क्योंकि उसने अपने राष्ट्र की, मातृभूमि की, भारत की अन्तिम सीमा तक विजय प्राप्तकर राष्ट्र की रक्षा की। उसने शून्य से उठकर भारत में एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। चन्द्रगुप्त भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम का प्रथम मुक्तिदाता था जिसने यूनानी-क्षत्रपों को मार भगाया। बाद में सेल्यूकस निकेटर (305-281 ई पू) को पराजितकर उसे सन्धि करने को मजबूर किया। ब्रिटिश विद्वान् विलियम वुडथ्रोप टार्न (1869-1957) के अनुसार उसने पैरोपनिसेडाई (काबुल, गान्धार-प्रदेश और सिंधु के मध्य का क्षेत्र)

आर्कोशिया (कंदहार), एरिया (हेरात) और जेड्रसिया (बलूचिस्तान) उससे प्राप्त हुए। इसी तरह गान्धार और काबुल का क्षेत्र उसके अधिकार में आ गया। उसके राज्य की सीमाएँ ईरान तक पहुँच गई थीं।

उसने सीमान्त-प्रदेशों से संबंध जोड़े। अत्याचारी नन्द-वंश के अन्तिम शासक धनानन्द को मारकर पाटलिपुत्र पर अधिकार किया। उसने दक्षिण भारत में राज्य का विस्तार किया, पश्चिम भारत उसके राज्य का भाग था। सौराष्ट्र प्रान्त में उसने एक 'सुदर्शन' नामक झील बनवाई थी। अवन्ती पर उसका अधिकार था। विन्सेन्ट स्मिथ ने¹ हिंदुकुश को भारत की सीमा माना है तथा लिखा है, 'दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने इस प्रकार उस वैज्ञानिक-सीमा को प्राप्त किया, जिसके लिए अंग्रेज़-उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जिसे मुगल-सम्राटों ने भी कभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया।' रोमन इतिहासकार जस्टिन ने चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्पूर्ण भारत का राजा माना है। बौद्ध-ग्रन्थ *महावंश* में उसे सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का शासक माना गया है। वह समूचे एशिया का ऐतिहासिक सम्राट् था।

साथ ही वह एक महान् प्रशासक था। उसकी केन्द्र से ग्राम-शासन तक की व्यवस्था भारतीय-प्रशासकों के लिए एक आदर्श बनी। विद्वानों का संरक्षक, कला का पारखी तथा भारतीय-धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता का प्रतीक था। बाद के दिनों में वह जैन मत का उपासक बन गया था परन्तु उसने किसी भी धर्म को थोपा नहीं।

20 वर्ष शासन (320-300 ई पू) के पश्चात् वह जैन-साधु भद्रबाहु का शिष्य बन गया था तथा दक्षिण भारत में रहते श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर रहने लगा था तथा शासन अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप दिया था। उसने 27 वर्ष अर्थात् 300-273 वर्ष ई पू तक राज्य किया। उसने न केवल चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य को बढ़ाया बल्कि दक्षिण भारत में उसका विस्तार किया। उसने एक लम्बे युद्ध के पश्चात् पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच की भूमि को अपने अधीन कर लिया था। कृष्णस्वामी आयंगर के अनुसार² मौर्य-सेनाएँ कोंकण से कर्नाटक-तट के साथ-साथ उसके दक्षिणी भागों में दक्षिण-पूर्व कोयम्बटूर की ओर

1. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ 95

1. वी पृ स्मिथ, पूर्वोद्धृत

2. एस् कृष्णास्वामी आयंगर, *दक्षिण भारतीय इतिहास का आरम्भ*

बढ़ी थीं और वहाँ से सेनाएँ दो भागों में बँट गई थीं जो एक ओर चोल देश तथा दूसरी ओर पाण्ड्य देश चली गई थीं। चाणक्य के पश्चात् खल्लटक व राधागुप्त उसके महामन्त्री रहे थे। उसे 'अमित्रघात' अर्थात् शत्रु का विनाशक भी कहा जाता था। उसने अपने पुत्र अशोक के लिए एक शानदार विरासत छोड़ी थी।

सम्राट् अशोक विश्व के महानतम शासकों में से था जिसने लगभग चार वर्ष तक गृहयुद्ध (269-268 या 236-233 ई. पू.) के पश्चात् राज्य सम्भाला। अपने शासन के प्रारम्भिक सात वर्षों तक उसने अपने राज्य-विस्तार की नीति अपनायी। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के विजित प्रदेशों पर अपना आधिपत्य रखा। उसने काश्मीर, खोतान के क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष उसने कलिंग पर आक्रमण की तैयारी की जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार ने भी जीतने का प्रयत्न न किया था। इस भयंकर युद्ध में अशोक विजयी हुआ। परन्तु संघर्ष में अशोक के 13वें शिलालेख के अनुसार 1,50,000 लोग बंदी हुए और 1,00,000 लोग मारे गए थे। इतने बंदी आधुनिक काल में भी किसी महायुद्ध में एकसाथ बंदी न हुए हैं। इस भयंकर नरसंहार ने सम्राट् अशोक का हृदय-परिवर्तन किया तथा उसने अपने युद्धघोष के स्थान पर 'धम्मघोष' (धर्मघोष) किया। अब उसने दिग्विजय के स्थान पर 'धम्मविजय' (धर्मविजय) को अपना लक्ष्य बनाया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका साम्राज्य किसी प्रकार से सीमित हो गया या सिकुड़ गया था। भारत के विभिन्न स्थानों पर उसके अभिलेखों से उसके राज्य-विस्तार की जानकारी मिलती है। ये अभिलेख उत्तर में अफ़ग़ानिस्तान (लपांक, कन्दहार), सीमाप्रान्त (शाहबाज़गढ़ी, मानसेरा) और हिमालय-प्रान्त (टोपरा, कालसी, मेरठ, निगलीवा, रुम्मिनदेई) से दक्षिण में उड़ीसा (धौली, जौगढ़) से पश्चिम में गुजरात (गिरनार) तक उसके अभिलेख मिलते हैं।¹ इन अभिलेखों से उसके साम्राज्य की सीमा पर काफी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में उसका साम्राज्य अफ़ग़ानिस्तान से मैसूर तक तथा पूर्व में बंगाल तक फैला था। उसके राज्य में हिंदूकुश अफ़ग़ानिस्तान तक, बलुचिस्तान, मकरान, सिंध, कच्छ, स्वात घाटी व उसके साथ के क्षेत्र, काश्मीर, नेपाल, सम्पूर्ण मुख्य भारत, सिवाय तमिल-भूमि के थे।² खोतान पर भी उसका

-
1. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ. 137
 2. वी. ए. स्मिथ, पूर्वोद्धृत, पृ. 70-71

प्रभाव था। स्मिथ के शब्दों में, 'उसका साम्राज्य उससे भी अधिक फैला था, जहाँ आज ब्रिटिश राज्य है, सिवाय बर्मा के।' भारत की राजनैतिक एकता स्थापित करने का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य को है और उसकी अखण्डता को अक्षुण्ण रखने का श्रेय अशोक को है।³ उसने अविजित सीमान्त प्रदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये। उसने अपने कूटनीतिज्ञ संबंध बनाए रखे। उसने धर्म-प्रचार के लिए सीरिया, मिश्र, एपिरस (कोरिया) और मेसीडोनिया राजदूत भेजे। सिंहल-राज्यों में अपने परिवार के सदस्यों को भेजा।

विन्सेन्ट स्मिथ ने सम्राट् अशोक को चीन के ल्यांग वंश के पहले शासक काओ-सू-यूतो (502-549 ई.) के समान माना है। अशोक एक भिक्षु तथा एक शासक—दोनों था।⁴ सम्राट् अशोक ने न केवल शाही शिकार-यात्रा बन्द की, बल्कि धम्म का उपदेश दिया तथा पश्चिमेशिया, पूर्वी यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका में अपने प्रचार के लिए दूत भेजे।⁵ स्मिथ विदेशों में बड़े स्तर पर मिशन भेजने के अशोक के विचार को एक 'पूर्णतः मौलिक' मानता है।⁶ अशोक का 'धम्म' वस्तुतः उसकी सांस्कृतिक सहिष्णुता तथा धार्मिक उदारता के परिचायक हैं। जॉन फेथफुल फ्लीट (1847-1917)-जैसे विद्वान् ने उसके धम्म को राजधर्म बतलाया है जो गलत है। राजधर्म तो प्रायः राजा के लिए होता है, प्रजा के लिये नहीं। प्रसिद्ध इतिहासकार राधाकुमुद मुकर्जी ने अशोक के धम्म को सार्वभौम धर्म बतलाया है। क्योंकि इसमें वर्णित आचारमूलक सिद्धान्त सभी के लिए स्वीकार योग्य हैं। कुछ विद्वानों ने इसे बौद्धधर्म से जोड़ दिया जो अमान्य है। वह किसी मत का प्रतिपादक न था बल्कि भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा व शाश्वत धर्म का ही उपासक था। परन्तु इतना अवश्य है कि तत्कालीन अवस्था में बौद्ध-धर्म को प्रमुखता मिली तथा वह विश्वधर्म के रूप में अग्रसर हुआ। सम्राट् अशोक का भी धम्म 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही भाग था।

-
1. वी. ए. स्मिथ, पूर्वोद्धृत, पृ. 71
 2. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ. 138
 3. वी. ए. स्मिथ, *अशोक : द बुद्धिस्ट एम्परा ऑफ़ इण्डिया*, (ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1920), पृ. 36
 4. *वही*, पृ. 32-34
 5. वी. ए. स्मिथ, *द अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, पृ. 193

इन्हीं सद्गुणों के कारण ही अशोक को भारत के राष्ट्र-निर्माताओं तथा विश्व के महानतम शासकों में गिना जाता है। उसने अपने पूर्वजों के साम्राज्य को बनाए रखा तथा उसका विस्तार किया। उसने पूर्व शासन-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य किये। उसने अनेक बौद्ध-विहारों तथा सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण कराया। उसके शिलालेख व स्तूप, भारतीय-इतिहास के महान् स्मारक हैं जो नरभक्षी तथा अन्धकारमय पाश्चात्य जगत् में भी विश्व-कल्याण को सन्देश देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

232 ई पू में लगभग 40 वर्ष शासन करने के पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। उसके पश्चात् उसका राज्य छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त हो गया। विभिन्न प्रान्तों से उसके वंशज उत्तराधिकारी बन बैठे। परिणामस्वरूप इस वंश के अन्तिम उत्तराधिकारी बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर शुंग वंश की नींव डाली।

शुंग तथा आन्ध्र-सातवाहन

पुष्यमित्र ने शुंग वंश की स्थापना उस समय की (187 ई पू) जब भारत छोटे-छोटे राज्यों में बिखरा हुआ था। वामपंथी-इतिहासकार रोमिला थापर ने ब्रिटिश प्रशासकों की भाँति इस बिखराव को देखते हुए भ्रमवश भारत को 'एक उपमहाद्वीप' लिखा है।¹ अन्तिम मौर्य-शासक बृहद्रथ का, सेना का निरीक्षण करते समय उसके सेनापति पुष्यमित्र ने वध कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग का शासन स्थापित करने का उद्देश्य मौर्य-शासन में फैली राजनीतिक अस्थिरता तथा यूनानियों के आक्रमण थे। शुंग ब्राह्मण थे तथा उनके राजपुरोहित प्रसिद्ध विद्वान् महर्षि पतञ्जलि थे। सिंहासन पर बैठते ही उसने राज्य को व्यवस्थित किया तथा कुल मिलाकर तीन संघर्ष किये। सर्वप्रथम विदर्भ से युद्ध किया जहाँ के मौर्य-अमात्य यज्ञसेन ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। पुष्यमित्र का पुत्र, जो विदिशा का शासक था, ने चतुराई से यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन को अपनी ओर मिलाकर यज्ञसेन को पराजित किया तथा अपनी अधीनता स्वीकार करने को मजबूर किया।

पुष्यमित्र का दूसरा संघर्ष यूनानियों के साथ था जिन्होंने साकेत,

पाञ्चाल, मथुरा तथा पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया था। आक्रमणकारियों का नेता मेनाण्डर (155-130 ई पू) था। तीसरे पुष्यमित्र ने पश्चिम के कुछ प्रदेशों पर आक्रमण किया था तथा 'दिव्यावदान' व तिब्बती-इतिहासकार तारानाथ (1575-1634) के अनुसार उसने पंजाब में जालन्धर तथा सांकल (स्यालकोट) पर भी अधिकार किया था। पुष्यमित्र ने अपने जीवनकाल में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किए थे। धर्म की दृष्टि से वह हिंदू-धर्म में आस्था रखता था। परन्तु यह कहना उचित नहीं कि वे बौद्ध-धर्म का शत्रु था। पुष्यमित्र की दो राजधानियाँ थीं— पाटलिपुत्र तथा विदिशा। दूसरी राजधानी का भरहुत के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने अनेक बौद्ध-स्तूपों का निर्माण होने दिया।

पुष्यमित्र शुंग की मृत्यु 151 ई पू में हुई। कमजोर उत्तराधिकारी आने के बाद इस वंश के अन्तिम शासन देवभूमि (85-75 ई पू) को मारकर वासुदेव कण्व ने अपना वंश चलाया, परन्तु यह वंश केवल 45 वर्ष (75-30 ई पू) तक चला। इसका अन्त आंध्र के सिमुक ने किया तथा आन्ध्र-सातवाहन वंश की स्थापना की।

आन्ध्र-सातवाहन-शासकों का भारतीय-राष्ट्रीय इतिहास में बड़ा महत्त्व है। इस वंश के राजा अपने को 'सातवाहन' कहते थे। मुख्यतः इनका कार्यक्षेत्र गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच रहनेवाले लोगों का था। ये सम्भवतः महाराष्ट्र के रहनेवाले थे तथा पहले महाराष्ट्र में शासन करते थे, परन्तु शकों द्वारा पराजित होने पर आंध्र में आकर बस गए थे। इनका शासनकाल 450 वर्ष तक माना जाता है। इस वंश में कुछ अन्तराल के साथ लगभग 30 शासक हुए। इतिहासकार राधाकुमुद मुखर्जी ने इनका शासनकाल 250 ई पू से 300 ई पू तक माना है। सम्भवतः ये मौर्यकाल में स्वतन्त्र हो गए थे। इस वंश का संस्थापक सिमुक (223-205 ई पू) था जिसने गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर प्रतिष्ठान या पैठन को अपनी राजधानी बनाया था। इस वंश में तीन शासक महान् प्रतापी हुए। इसमें शातकर्णि प्रथम (187-177 ई पू), गौतमीपुत्र शातकर्णि तथा वसिष्ठीपुत्र पुलुमावी द्वितीय थे। इसमें गौतमीपुत्र शातकर्णि सबसे वीर प्रतापी शासक था जो इस वंश का 23वाँ शासक था। सर्वप्रथम सातवाहन राज्य कुछ समय के लिए नष्टप्राय हो गया था, उसने उसकी पुनः स्थापना की। उसने क्षहरात वंश को पूर्णतः नष्ट कर दिया। उसके काल की सबसे बड़ी घटना शक, पहलव तथा यूनानियों का दमन था।

1. रोमिला थापर, *ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, भाग एक (पृ 1966, पुनर्मुद्रण, 1984, ग्रेट ब्रिटेन), पृ 92

वस्तुतः शातकर्ण प्रथम के पश्चात् पतन के काल में शक-क्षहरात ने आक्रमण किए थे तथा महाराष्ट्र में उनका राज्य स्थापित हो गया था। तभी सातवाहनों को आंध्र में जाकर बसना पड़ा था। नहपान को उसने हराया। अब उसने महाराष्ट्र के साथ गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, पूना, नासिक पर अपना अधिकार किया। उसने नहपान से वे क्षेत्र भी प्राप्त हुए थे जो शकों ने ले लिए थे। उसके नासिक-गुफालेख से ज्ञात होता है कि उसके घोड़ों ने तीन समुद्रों का पानी पिया था।

गौतमीपुत्र शातकर्ण एक महान् विजेता, विदेशियों से भारत का रक्षक और एक कुशल शासक ही नहीं बल्कि एक धर्मपरायण राजा था। वह वैदिक धर्म को मानता था तथा सभी सम्प्रदायों के प्रति उदार था। विन्सेन्ट स्मिथ ने उसे 'हिंदुत्व का रक्षक' लिखा है।¹ उसका राज्य 24 वर्ष (106 से 130) रहा।

उसका पुत्र वसिष्ठीपुत्र पुलुमावी द्वितीय भी उसी की भाँति वीर, बलशाली तथा कुशल प्रशासक था। उसने लगभग 29 वर्ष (130 से 159) तक राज्य किया। उसे आन्ध्रप्रदेश का राजा, 'दक्षिणपथपति' या 'दक्षिणपथेश्वर' कहा गया है।

इण्डो-ग्रीक, शक तथा कुषाण-आक्रमण

सम्राट् अशोक के ही काल से कुछ यूनानी-सरदार हिंदुकुश को पारकर भारत की सीमा के पास बस गए थे। दो महत्त्वपूर्ण प्रान्त सेल्यूकस के साम्राज्य से अलग होकर स्वतन्त्र हो गए थे। ये थे बैक्ट्रिया व पर्थिया। बैक्ट्रिया हिंदुकुश व ऑक्सस के बीच बसा एक समृद्ध प्रदेश था। इसमें डायोडोटस द्वितीय (235 ई पू.), यूथीडेमस प्रथम (235-200 ई पू.), डेमेट्रियस प्रथम (200-171 ई पू.) आदि यहाँ के प्रमुख शासक बने। डेमेट्रियस ने भारत के कुछ क्षेत्रों पर आक्रमण किया था। उसने पंजाब तथा पश्चिम भारत से कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। मेनाण्डर (मिलिन्द) भी इन्हीं में से एक था। थोड़े ही समय में यूनानी-सैनिक अयोध्या तक पहुँच गये थे। भुवनेश्वर के निकट प्रसिद्ध हाथीगुम्फा-अभिलेख से ज्ञात होता है कि चैत्ररथ के बलशाली पौत्र खारवेल (145-120 ई पू.) ने

अयोध्या तक पहुँचे यूनानियों को पञ्चनद तक खदेड़ दिया था तथा इस निमित्त राजसूय-यज्ञ किया।¹ शुंग-काल में उसने भारत पर आक्रमण किया था। कुछ उसे मेनाण्डर का भी आक्रमण मानते हैं। परन्तु पुष्यमित्र की सेनाओं ने उसे सिंधु-तट पर ही रोक दिया था।² परन्तु इसी समय बैक्ट्रिया में विद्रोह होने पर डेमेट्रियस को वापस जाना पड़ा था तथा मेनाण्डर द्वारा जीते हुए प्रदेश उन्हें वापिस करने पड़े थे।

दूसरा प्रान्त पर्थिया था। यहाँ के मिथ्रिडेट्स प्रथम (171-138 ई पू.) ने सिंधु और रावी के बीच के भाग पर 130 ई पू. अधिकार कर लिया था। अतः तक्षशिला पर उसने आधिपत्य स्थापित कर लिया था परन्तु वह अधिक देर तक प्रभावी अधिकार न रख पाया था, पर टकराव से शीघ्र ही यूनान के ये दोनों राज्य समाप्त हो गए थे।

इण्डो-ग्रीक के पश्चात् भारत में शक-पहलवों का राजनीतिक प्रभाव स्थापित हुआ। भारत के उत्तर-पश्चिम से विदेशियों के झुण्ड-के-झुण्ड भारत आने लगे थे। मध्येशिया तथा चीन के इर्द-गिर्द हुई हलचलों ने कुछ कबीलों को अपना स्थान छोड़ने को मजबूर किया। शक दूसरी शताब्दी ई पू. चीन के पश्चिम क्षेत्र को छोड़कर सीस्तान में रहने लगे थे, जहाँ उनका बैक्ट्रियन तथा पर्शियन से टकराव हुआ। इन्हें 'सिथियन' भी कहा जाता है। शकों के भारत-आगमन के बारे में दो मार्ग बताए जाते हैं। कुछ ने सिंधु नदी के मार्ग से तथा कुछ ने इन्हें ईरान से आने का मार्ग बतलाया है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में इनके आगमन से स्वाभाविक रूप से हलचल हुई। कुछ विद्वानों के अनुसार ये यमुना से गोदावरी तक फैले हुए थे। ये तीसरी शताब्दी तक भारत के विभिन्न भागों में शासक बने रहे थे।

मोटे रूप से इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में तक्षशिला के शक-शासक आते हैं। इसमें मावेज (90 ई पू.) सर्वप्रथम शक-शासक था। उसका अपना राज्य काश्मीर, गान्धार तथा पश्चिमी पंजाब तक था। कुछ विद्वान् कपिशा पर भी उसका अधिकार मानते हैं। उसके पश्चात् एजिलिसेज (60 ई पू. से पूर्व), एजेज प्रथम (60-20 ई पू.) आदि शासक

1. वी. ए. स्मिथ, *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (द्वि. सं. 1923, ऑक्सफोर्ड), पृ. 119

1. राम साठे, *भारतीय-इतिहासमाला*, राजनीतिक खण्ड, भाग-1 (नागपुर, 1982), पृ. 43
2. वही, पृ. 44

हुए। उन्होंने ईरान से प्राप्त क्षत्रप-प्रणाली को भारत में चलाया था। अपने शासन के अंतर्गत उन्होंने विभिन्न प्रदेशों की देखभाल के लिए क्षत्रपों की नियुक्ति की थी। दूसरे भाग में पश्चिम भारत के क्षहरात थे। इसमें प्रसिद्ध नहपान (119-124 ई.) नामक शासक को शक कहा है जो क्षहरात वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इन शकों का सबसे प्रसिद्ध शासक नहपान ही था। इसका राज्य पूना, उत्तरी कोंकण से लेकर काठियावाड़, मंदसौर, उज्जयिनी तथा अजमेर तक फैला था। यह गौतमीपुत्र शातकर्ण द्वारा हारा था। तीसरे भाग में चष्टन वंश था। इस वंश का राज्य उज्जयिनी और काठियावाड़ में था, इस वंश का प्रसिद्ध शासक यशोमतिक था। इनके अलावा कुछ शक पंजाब, मथुरा होते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गए थे। इन्हीं शकों ने उज्जयिनी के गर्दभिल्य पर आक्रमण किया था। इनको पराजितकर मालव गणराज्याधिपति ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि प्राप्त की थी तथा 57 ई. पू. में 'विक्रम संवत्' प्रारम्भ किया था। इस संवत् को 'मालवगण स्थिति' या 'मालवगण काल' भी कहा जाता है।¹ भारत के इतिहास में यह विजय अद्वितीय थी तथा तभी से 'विक्रम संवत्' भारत में प्रचलित संवत् में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

इसी भाँति कुषाण-आक्रमणकारियों का आरम्भ में राज्य काबुल के आसपास था। परन्तु उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाकर सिंधु नदी तक सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। कुछ काल बाद वे पूर्व में अवध और पाटलिपुत्र तक और दक्षिण में मालवा तक बढ़ गए थे।

कुषाणों में कुजुला कडफिसेज (20 ई. पू. -30 ई.) व वेम्ला कडफिसेज (30-80 ई.) एक परिवार से थे तथा एक दूसरे परिवार से कई शासक हुए जिसमें कनिष्क (103-127 ई.), हुविष्क प्रथम (130-162 ई.) और वासुदेव प्रथम (162-200 ई.) प्रसिद्ध शासक हुए। इसके बाद इस वंश का पतन हो गया था। इन्होंने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाई थी। शीघ्र ही इनका राज्य पश्चिम में रोम तक तथा उत्तर में तुर्किस्तान को मिलाकर चीन तक हो गया था तथा साथ ही मालवा व मथुरा में भी इनके ही क्षत्रप-शासक थे। कनिष्क ने चीन पर चढ़ाई करके सफलता पाई थी।

कनिष्क ने बौद्ध-धर्म अपनाया था। उसने भी अपने काल में एक

बौद्धमत की सभा (तृतीय अंतर्राष्ट्रीय बौद्ध-परिषद्) काश्मीर में बुलाई थी। उस समय बौद्ध-मत लंका, बर्मा, जावा में फैल गया था। उल्लेखनीय है कि जहाँ उसने अन्य धर्मों के प्रति उदारता अपनाई, वहाँ बौद्ध-मत में भी क्रान्तिकारी-परिवर्तन किये। अब बौद्ध-मत की महान् आत्माओं को अर्थात् बोधिसत्त्वों को साधारण मनुष्यों से ऊँचा समझा जाने लगा। यह परिवर्तन बौद्ध-धर्म में 'महायान' कहलाया। वस्तुतः यह धारणा पूर्व में भी थी, पर अब इसको प्रतिष्ठा मिली। बौद्ध-मत का प्रचार तिब्बत, एशिया तथा चीनी-साम्राज्य में भी हुआ। मुख्य बात यह हुई कि बौद्ध-धर्म की भाषा अब संस्कृत हो गयी।¹ कनिष्क के दरबार में संस्कृत-भाषा के अनेक विद्वान् थे। अश्वघोष (80-150 ई.) ने संस्कृत में गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र लिखा। यूनानी तथा भारतीय-प्रभाव से युक्त गान्धार-शैली का निर्माण हुआ जिसके द्वारा एक नवीन मूर्तिकला का निर्माण हुआ। अतः शीघ्र ही कुषाण लोग भारतीय-समाज में रच-पच गये। उन्होंने भारतीय-जीवन-प्रणाली को अपना लिया। शकों की भाँति कुषाणों की भी भारत में कुछ काल बाद पराजय हुई। सम्राट् समुद्रगुप्त ने इन्हें पश्चिमी पंजाब तथा अफगानिस्तान से हटाकर अपना वर्चस्व स्थापित किया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुषाणों को हिंदुकुश के पार खदेड़कर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

महान् गुप्त-शासकों का राज्य

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कुछ वामपंथी-इतिहासकारों ने भारत में महान् गुप्त-शासकों के इतिहास की खिल्ली उड़ाई है। उसे 'भारत का स्वर्णकाल' इसलिए लिखा कि इसमें सोने-चाँदी के सिक्के सर्वाधिक गढ़े गये। रोमिला थापर ने इसे 'काल्पनिक' बतलाया तथा देश को अमीरी-गरीबी के तराजू में तोलते हुए इसे 'क्लासिकल काल' केवल उत्तरी भारत के उच्च वर्ग तक सीमित बतलाया।²

वस्तुतः इसमें कोई शक नहीं है कि गुप्त-शासकों का काल प्राचीन भारतीय-इतिहास का उत्कृष्ट काल था। वस्तुतः इसका 'स्वर्णयुग' कहलाने का यह कारण रहा क्योंकि इसमें मातृभूमि के प्रति भक्ति तथा सांस्कृतिक-जीवन मूल्यों को सर्वोच्च स्थान दिया गया। इस काल में इतिहास जानने के साधन—

1. एसु कृष्णास्वामी आयंगर, *ए क्लास बुक ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री* (कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई, 1945), पृ. 76
2. रोमिला थापर, पूर्वोद्धृत, पृ. 136

1. राम साठे, पूर्वोद्धृत, पृ. 46

उत्कीर्ण लेख, मुद्राएँ, शिल्पशास्त्र, साहित्य तथा यात्रा-विवरण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। अधिकतर विद्वानों ने गुप्तकाल को निःसंकोच होकर भारत का स्वर्णयुग माना है। इन सभी साधनों से विदित होता है कि गुप्तों का उदय प्रयाग के आसपास हुआ। पुराणों में प्रयाग, साकेत और मगध का नाम दिया गया है। श्रीगुप्त (275-300) इस वंश का संस्थापक था। इससे बाद घटोत्कच गुप्त (300-320) तथा चन्द्रगुप्त प्रथम (320-350) शासक हुए थे। चन्द्रगुप्त प्रथम के काल में गुप्तकाल का विकास प्रारम्भ हुआ। उसका लिच्छवि वंश की एक राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह हुआ था। यह घटना गुप्त-साम्राज्य के इतिहास में अद्वितीय मानी जाती है क्योंकि यहीं से गुप्तों का उत्कर्ष हुआ।¹ 320 ई. में उसने गुप्त संवत् भी चलाया था। यह शासनकाल मुख्य रूप से 320-467 ई. तक रहा। इसमें प्रसिद्ध शासक समुद्रगुप्त (350-370), रामगुप्त (370-376), चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' (376-415), कुमारगुप्त प्रथम (415-455) और स्कन्दगुप्त (455-467) हुए। 'प्रयागप्रशस्ति' समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर प्रकाश डालती है। इससे ज्ञात होता है कि उसने आर्यवर्त के नौ राजाओं को पराजितकर हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के प्रदेशों पर कब्जा किया जिनके नाम रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि तथा बलवर्मा थे। दूसरे उसने दक्षिण-विजय से पूर्व मध्य भारत के जंगलों के राजाओं को विजित किया। तीसरे उसने दक्षिण भारत के बड़े भाग पर विजय प्राप्त की पर उनको अपने राज्य में नहीं मिलाया, बल्कि केवल अपने अधीन किया। इन राज्यों की संख्या 11 अथवा 12 थी। उसने सीमावर्ती राज्यों से संबंध जोड़े तथा इन्हें विजितकर, उनपर अपना प्रभाव स्थापित किया। यह राज्य थे समतट (पूर्वी बंगाल), कामरूप (असम का गुवाहाटी ज़िला), उवाक (नौगाँव ज़िले का असम में कोविली घाटी का दवाक), नेपाल, कर्तृपुर तथा मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्र तथा आभीर। इसके साथ उसने विदेशी-राज्यों के साथ मैत्री संबंध स्थापित किये। ये विदेशी-राज्य देवपुत्रशाही शाहनुशाही (उत्तर-पश्चिम में) कुषाण, शक (उत्तर पश्चिम व पश्चिम भारत में) मुरण्ड (एक कुषाण जाति) थे। इसमें सिंहल तथा समुद्रपार के द्वीप थे। प्रयागप्रशस्ति में इनके लिए 'सर्वद्वीपवासिन' शब्द प्रयोग किया गया है। सम्भवतः इसका अर्थ दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपसमूहों से होगा। इस अर्थ में समुद्रगुप्त ने

अपने काल में बृहत्तर भारत का श्रीगणेश कर दिया था।¹ संक्षेप में दक्षिण भारत के राज्यों से मित्रता के अतिरिक्त उसका साम्राज्य ब्रह्मपुत्र से यमुना व चम्बल तक फैला था। उसने इस विजय अभियान के पश्चात् अश्वमेध-यज्ञ भी किया तथा स्वर्ण-मुद्राएँ भी ढलवाई थीं। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन विश्व के इतिहास में इस प्रकार का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। समुद्रगुप्त एक महान् विजेता होने के साथ-साथ एक कुशल प्रशासक, कूटनीतिज्ञ तथा कलाप्रेमी भी था। वह शस्त्रों के साथ शास्त्रों का भी ज्ञाता था तथा स्वयं एक महान् संगीतज्ञ था। उसे 'कविराय' की उपाधि प्रदान की गई थी। धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से वैष्णव होते हुए उसने अन्य धर्मों के विकास में योगदान दिया था। वसुबन्धु नामक बौद्ध-विद्वान् ने उसकी उदारता की बड़ी प्रशंसा की है। उसकी प्रजा उसे बहुत चाहती थी तथा उसकी तुलना महाराजा पृथु व रघु से की गई है।

गुप्त-शासकों में चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' भी महान् विजेता था। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त की राज्य-सीमाओं को विस्तृत किया तथा युद्ध किये। मातृभूमि की रक्षा तथा अद्वितीय प्रेम से वशीभूत हो उसने उन विदेशी-राज्यों पर भी आक्रमण किया जो समुद्रगुप्त के काल में रह गए थे। उसने पश्चिम भारत में शकों को पराजित किया। उसका यह महान् अभियान 388-401 ई. के बीच हुआ था। इस विजय से उसका मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और काठियावाड़ के साथ तटवर्ती बन्दरगाहों से सम्पर्क हुआ जिससे समुद्री व्यापार भी बढ़ा तथा सांस्कृतिक संबंध भी। इससे उज्जैन की महत्ता बढ़ी तथा वह धार्मिक तथा राजनीतिक केन्द्र बन गया।

इस समय दूसरे विदेशी-शासक कुषाण थे जो उत्तर-पश्चिम में देवपुत्र शाहि शाहनुशाहि के रूप में अभी जमे हुए थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुषाणों के अवशेषों को समाप्त किया। इसके साथ ही अपने पिता समुद्रगुप्त से एक कदम आगे बढ़कर दक्षिण भारत के राजाओं से न केवल अच्छे संबंध बनाए, अपितु उनसे वैवाहिक संबंध स्थापितकर एक महान् कूटनीतिज्ञ होने का भी प्रमाण दिया। उसने नाग, वाकाटक तथा कुन्तल-नरेशों से संबंध जोड़े। नागकन्या कुबेरनागा से विवाह किया जिससे प्रभावती का जन्म हुआ था। उसने प्रभावती का विवाह वाकाटक वंश के प्रसिद्ध राजा रुद्रसेन द्वितीय (380-385) से किया।

1. पी. एल. गुप्त, *हिस्ट्री आफ इम्पीरियल गुप्ताज़*

1. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ. 240

इससे परस्पर संबंध मजबूत हो गए तथा शकों तथा कुषाणों का इस क्षेत्र में प्रभाव होने की सम्भावना सदा के लिए समाप्त हो गयी। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा नदी तथा बंगाल से काठियावाड़ तक फैला था। दिल्ली में महारौली का लौह-स्तम्भ उसके यश कीर्ति की गाथा आज भी बतलाता है। उसने सिंधु नदी के सातों स्रोतों को पारकर बाहिलख (बदख़्शा) को जीता था और दूसरी ओर दक्षिण भारत के राजाओं से अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक अपने संबंध बनाए थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय जहाँ युद्ध में निपुण, राजनीति में कूटनीतिज्ञ, प्रशासन में सुव्यवस्थित था, वहीं वह धर्म का संरक्षक तथा विद्याप्रेमी था। वह वैष्णव-सम्प्रदाय का उपासक था तथा उसने विष्णु के वाहन विष्णुध्वज पर गरुड़ की मूर्ति स्थापित की थी। परन्तु वह दूसरे धर्मों के प्रति अत्याधिक उदार तथा सहिष्णु था। उसका मंत्री शैव था। उसका एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी आम्रकार्दव बौद्ध था। उसने विद्वानों को प्रश्रय दिया था। उसके दरबार में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि नामक 'नवरत्न' शोभा पाते थे।¹ ये सभी अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ थे। चन्द्रगुप्त के काल में ही चीनी-यात्री फाह्यान (337-422) ने भारत की यात्रा (399-412 ई.) की थी। इस 13 वर्षों की यात्रा में उसने चन्द्रगुप्त के राज्य का भी वर्णन किया है। उसने मालवा तथा मगध के प्रांतों का वर्णन किया है। उसने मालवा को घनी आबादीवाला तथा प्रजा को सुखी बतलाया है। प्रत्येक व्यक्ति को आवागमन की पूरी छूट थी जो उस समय चीन में भी नहीं थी। सजाएँ अत्यधिक सरल थीं। लोग खुले किवाड़ निडर हो सोते थे। उसने मगध के चिकित्सालय का वर्णन भी किया जो सम्भवतः सम्राट् अशोक के काल से ही था। उसके अनुसार लोग शाकाहारी थे, न मद्यपान होता था और न ही बूचड़खाने थे। यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ थीं। उसने पाटलिपुत्र में अशोक का राजभवन भी देखा तथा इसे देवताओं द्वारा निर्मित बताया। उसने पाटलिपुत्र में रहकर तीन वर्षों तक संस्कृत सीखी थी।

गुप्तकाल के महान् शासकों की श्रेणी में अन्तिम उल्लेखनीय शासक

1. 'धन्वन्तरिक्षपणकऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वैवरुचिविक्रमस्य ॥'

—कालिदास-विरचित *ज्योतिर्विदाभरण*, 12.10

स्कन्दगुप्त (455-467 ई.) हुआ। उसके जीवनकाल की सर्वोच्च घटना हूणों पर विजय है। हूण मध्येशिया की एक खूँखार जाति थी जिसने भारत के उत्तर-पश्चिम में बैक्ट्रिया नामक स्थान पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। उन्होंने हिंदूकुश पारकर भारत के लिए संकट खड़ा कर दिया था। किसी भाँति स्कन्दगुप्त के पिता कुमारगुप्त ने इस क्षेत्र में शान्ति बना रखी थी, परन्तु ये आक्रमण भारत पर सौ वर्षों तक बने रहे थे।

स्कन्दगुप्त के काल में हूणों ने भारत के उत्तर-पश्चिम में परेशानी खड़ी कर दी थी। 460 ई. में उसने हूणों के विरुद्ध अभियान लिया। फिर 467 ई. में दुबारा उनसे संघर्ष हुआ। उसने हूणों को पराजित किया तथा विजयस्वरूप 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। परन्तु वह गुप्तकाल के शक्तिशाली शासकों में अन्तिम था। उसके बाद अनेक कमजोर शासक हुए। उनका राज्य सीमित हो गया।

हूणों के आक्रमण निरन्तर होते रहे। उन्होंने भारत के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। तोरमाण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल ने अपने अत्याचारों से सर्वत्र आतंक स्थापित कर दिया था। कहा जाता है कि वह हाथियों को पहाड़ों से गिरवाकर तथा उनकी चिंघाड़ से आनन्दित होता था। पर मालवा के एक सरदार यशोधर्मा, जो गुप्त-शासक नरसिंहगुप्त बालादित्य के समकालीन था, ने 532 ई. के लगभग मिहिरकुल को पराजित किया। वह इतिहास में 'जनेन्द्र विष्णुवर्धन यशोधर्मा' के नाम से विख्यात है। बाद में मिहिरकुल ने शैवमत को अपना लिया था। उसने काश्मीर में पहलगँव में मिहिरेश्वर मन्दिर (वर्तमान में मामलेश्वर) बनवाया था।

गुप्तकालीन भारत—राष्ट्र

गुप्त-सम्राटों के संक्षिप्त-से विवरण के साथ यदि हम इस समूचे कार्यकाल की विवेचना करें तो यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पर न तो पाश्चात्य ढंग का राजतन्त्र था और न ही पाश्चात्य सामन्तवाद। बल्कि यह भारतीय ऋषि-मुनियों तथा धर्म पर आधारित व्यवस्था थी।

मौर्य-साम्राज्य के पश्चात् गुप्त-शासकों ने न केवल भारत में राजनैतिक एकता स्थापित की, अपितु मातृभूमि की रक्षा के लिए समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त ने जुझारू प्रयत्न किए थे। चन्द्रगुप्त ने जहाँ शकों

और कुषाणों के परकीय आक्रमणों का नाश किया, वहाँ स्कन्दगुप्त तथा बाद में मालवा के यशोधर्मा ने उनका विनाश किया था।

राजा को समय-समय पर अनेक उपाधियाँ दी जाती थीं, परन्तु राजव्यवस्था एकतन्त्रात्मक न थी। बल्कि राजनीतिक व्यवस्था 'विकेन्द्रीयकरण' पर आधारित थी। केन्द्र से लेकर ग्राम-शासन की व्यवस्था सुविभाजित तथा स्पष्ट थी। गुप्त-शासकों के काल में अनेक जनकल्याणकारी योजनाएँ तथा कार्य किए गए थे। सिंचाई तथा जल की उत्तम व्यवस्थाएँ, स्थान-स्थान पर निःशुल्क चिकित्सालय, धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ तथा यातायात की सुविधाएँ प्राप्त थीं। शिक्षा का प्रबन्ध था। समय-समय पर राजा अतुल धनराशि तथा गायें दान के रूप में देता था। देश में पूर्णतः आन्तरिक सुरक्षा थी। फाह्यान ने अपने यात्रा-वर्णन में इसका विस्तार से वर्णन किया है। अतिथि-सत्कार को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। लोग मन्दिरों के निर्माण में मुक्तहस्त से दान देते थे।

सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त समृद्ध तथा आत्मनिर्भर था। कृषि, उद्योग तथा व्यापार— सभी का विकास हुआ। व्यापार जल तथा स्थल— दोनों मार्गों से होता था। विदेशों से माल का निर्यात तथा आयात होता था। भारत में व्यापार के अनेक केन्द्र थे। अनेक प्रकार के सिक्कों का प्रचलन था। भारत में जलयानों का निर्माण होता तथा उनकी बिक्री होती थी। व्यापारिक क्षेत्र में तरह-तरह की रासायनिक कलाओं का विकास हुआ। लोहे, ताँबे, पीतल, काँसे का अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माण में उपयोग होता था। सोने-चाँदी के सिक्के भी बनते थे। यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा कृषि थी जिसकी निश्चित बुवाई, भूमिकर-निर्धारण तथा प्राप्ति की उचित व्यवस्था थी।

सामाजिक दृष्टि से गुप्त-साम्राज्य के लोग उन्नत तथा कर्मशील थे। समाज मुख्यतः चार वर्णों में बँटा था परन्तु कठोरता न थी। वर्णों तथा व्यवस्थाओं का परिवर्तन होता रहता था, ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अंतर्जातीय विवाह होते थे। समाज में परिवार को प्रमुख स्थान दिया जाता था। बहुविवाह भी होते

1. 'ए रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम, बीइंग एन एकाउंट बाय द चायनीज़ मोंक फाह्यान ऑफ हिज़ ट्रेवल्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन इन सर्च ऑफ द बुद्धिस्ट बुक्स ऑफ डिस्सिप्लीन', अनुवादक एवं संपादक : जेम्स लीग, प्रकाशक : क्लेरेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1886

थे। विधवा-विवाह होते थे। समाज में महिलाओं का स्थान उच्च था। कई महिलाएँ शासिका भी हुई थीं। सामान्यतः कोई भी धार्मिक कर्तव्य महिलाओं के बिना पूरा न होता था। महिलाओं में सजने तथा कीमती आभूषण पहनने की प्रवृत्ति थी। सामान्यतः लोगों का भोजन साधारण था। शाकाहारी भोजन को प्रमुखता थी। फाह्यान ने इसका विशद वर्णन किया है। जीवन में संस्कारों को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। तरह-तरह के शकुन-अपशकुन का विचार भी होता था। ज्योतिषशास्त्र तथा भविष्यवाणी पर भी विश्वास किया जाता था।

धार्मिक दृष्टि से भारत प्राचीन व्यवस्था पर आधारित था। धर्म को व्यापक अर्थ में ही लिया जाता था। वैदिक धर्म को महत्त्व दिया जाता था। गुप्त-शासक प्रायः सभी वैष्णव थे, परन्तु सभी धर्मों के प्रति उदारता थी। प्रत्येक को धर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वैष्णव के साथ शैव, बौद्ध, जैन, शाक्त-मत भी थे। समय-समय पर बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन होता था। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञ भी होते थे। लोगों में दान देने की प्रवृत्ति थी। इस काल में अनेक मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण हुआ।

साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति की दृष्टि से गुप्तकाल उन्नति के शिखर पर था। साहित्य के क्षेत्र में विश्व के श्रेष्ठतम साहित्यिक ग्रन्थों की रचना हुई। महाकवि कालिदास इसी काल में हुए जिनके सातों ग्रन्थ बाद में विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवादित हुए। ये ग्रन्थ थे— 1. ऋतुसंहारम्, 2. रघुवंशम्, 3. कुमारसम्भवम्, 4. मेघदूतम्, 5. विक्रमोर्वशीयम्, 6. मालविकाग्निमित्रम् तथा 7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। कालिदास के अतिरिक्त हरिषेण ने प्रयागप्रशस्ति लिखी। मातृगुप्ताचार्य उस काल के महाकवि थे। महाकवि शूद्रक, विशाखदत्त, सुबन्धु आदि प्रसिद्ध लेखक हुए।

साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। आर्यभट्ट प्रथम (476-550), ब्रह्मगुप्त (597-668), वराहमिहिर-जैसे महान् वैज्ञानिक इसी काल में हुए। नागार्जुन (150-250) नामक बौद्ध-विद्वान् प्रसिद्ध रसायनशास्त्री थे। बौद्ध तथा जैन धर्म-संबंधी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई।

शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई। अनेक पाठशालाओं, विद्यालयों का निर्माण हुआ। शिक्षालयों को अनुदान तथा दान दिए जाते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का निर्माण भी इसी काल में हुआ।

कला के क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। अनेक कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने इस युग में बने। अनेक मन्दिरों, स्तूपों, विहारों तथा मूर्तियों का निर्माण हुआ। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, कानपुर के भीतरीगाँव का शैव मन्दिर, उदयगिरि में वराह मन्दिर, उज्जैन का महाकाल मन्दिर, बोधगया का महाबोधि मन्दिर आदि गुप्तकालीन कला के अवशेष हैं। मूर्तियों के निर्माण में मथुरा, वाराणसी तथा पाटलिपुत्र-शैलियों का जन्म हुआ। विशिष्ट प्रकार की स्थापत्यकला से युक्त मन्दिर बनाए गये। अजन्ता, एलोरा और बाघ के कुछ गुफाविहार/मन्दिर बनाए गये। इसी भाँति दिल्ली का लौहस्तम्भ तथा एरण का पाषाण-स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। चित्रकला, संगीतकला का विकास हुआ। कहा जाता है कि समुद्रगुप्त वीणावादन में निपुण था। विद्वानों ने विविध ढंग से गुप्तकाल के कला, साहित्य, संस्कृति तथा विज्ञान की उन्नति की प्रशंसा की है। विद्वान् वारनेट का मत है कि गुप्तकाल भारत के साहित्यिक इतिहास में वही स्थान रखता है जो यूनान में इतिहास पेरिक्लिज के युग को प्राप्त है। एक विद्वान् ने कहा,

‘संस्कृति एवं साहित्य के दृष्टिकोण से तो यह युग निःसन्देह स्वर्णयुग कहा जा सकता है।’

‘कला, साहित्य, दर्शन और चिन्तन में जो प्रगति हुई, इसका मूल कारण यह था कि गुप्तों ने देश में राजनैतिक स्थायित्व कायम किया था और देश लगभग 150 वर्षों तक विदेशी आक्रमणकारियों से मुक्त रहा।’

‘न केवल भारत में, विदेशों में भी यशकीर्ति हुई। ‘गुप्त-जागरण का प्रभाव एक तरफ चीन पर हुआ और वहाँ से कोरिया तथा जापान तक पहुँचा और दूसरी ओर अरब के रास्ते यूरोप की ओर। तिब्बत और मध्येशिया भी इससे अछूते न रहे।’³

दुर्भाग्य से कुछ पाश्चात्य चिन्तन से ग्रस्त अथवा वामपंथी-लीक से चिपके विद्वानों ने गुप्त शासकों की राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था को फ्यूडलवाद, यूनान की भाँति दास-व्यवस्था आदि का आधारहीन वर्णन किया। रोमिता थापर और डी डी कौशाम्बी (1907-1966)-जैसे विद्वान् पाश्चात्य ढंग से

इतिहास-विकासक्रम में भारत में भी वही सब बातें ढूँढ़ने लगे जो न कभी भारत में थी और यदि थी तो उनका स्वरूप पाश्चात्य जगत् से बिल्कुल भिन्न था। कौशाम्बी ने लिखा कि, ‘गुप्तों ने राष्ट्रीयता की पुनरुत्पत्ति नहीं की वरन् राष्ट्रीयता ने गुप्तों की पुनरुत्पत्ति की।’ साथ ही लिखा, ‘स्वामीभक्ति ने कृषक, दासों एवं आश्रितों को सामन्तीय प्रमुखों के साथ एक शृंखला रूप में निबद्ध कर दिया।’¹

वस्तुतः उस काल में न ही आधुनिक ढंग का वर्गसंघर्ष था, न सामाजिक विषमता, न ही कभी भारत में यूरोपीय फ्यूडलिज़्म रहा और न ही यूरोपीय-ढंग की घृणित दास-प्रथा।

हर्षवर्धन का शासनकाल (606-647 ईउ)

गुप्तकाल के पतन के बाद स्थाणवीश्वर या थानेसर में एक और प्रभावी राज्य का अभ्युदय हुआ और वह था वर्धन वंश या पुष्यभूतिवंश का उदय। इस वंश में प्रभाकरवर्धन (580-605) तथा उसके पुत्र हर्षवर्धन (606-647) प्रतापी शासक हुए। इस वंश की स्थापना छठी शताब्दी में हुई। प्रभाकरवर्धन को अनेक विभूतियों का धारण करनेवाला बताया गया है। उसने अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध किए थे। बाणभट्ट ने उसे ‘हृणरूपी मृग के लिए सिंह, सिंधु राजा के लिए ज्वर, गुर्जर की निद्रा भंग करनेवाला, गान्धार राजा के लिये कूटहस्तिजवर, लाटों की पटुता को हरनेवाला तथा मालव की लता-रूपी लक्ष्मी के लिए कुठार’ बतलाया है। विद्वानों का निष्कर्ष है कि उसने राजपुताना, गुजरात, सिंधु, गान्धार एवं मालवा के राजाओं को पराजित किया था। वह ‘परमभट्टारक’ तथा ‘महाराजाधिराज’ कहलाता था। उसने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह गृहवर्मन मौखरी (600-605) के साथ किया था।

सन् 605 ई में अपने पिता की मृत्यु पर हर्षवर्धन का बड़ा भाई राज्यवर्धन शासक बना था, जो अपने पिता के समान बलशाली था। वह अपने पिता की मृत्यु के समय हूणों से संघर्ष कर रहा था। युद्ध से वापस लौटने पर उसे ज्ञात हुआ कि मालवा के राजा देवगुप्त ने उसके बहनोई गृहवर्मा का वध कर दिया तथा राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया है। वह बदला लेने के लिए तथा अपनी बहन राज्यश्री का पता लगाने के लिये चला, परन्तु गौड़-शासक शशांक (590-625) ने धोखे से उसकी हत्या कर दी।

1. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ 285

2. वही, पृ 288

3. वही, पृ 289

1. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ 289

अतः हर्षवर्धन ने इस विकट परिस्थिति में शासन सम्भाला। उसने 606-647 ई. तक राज्य किया तथा वीरतापूर्वक सभी संकटों का मुकाबला किया। उसने राज्यश्री का पता लगाया तथा उसे कन्नौज के कारागार से मुक्त कराया। राज्यश्री के कोई सन्तान न होने पर कन्नौज का शासन भी अपनी बहन के साथ सम्भाला। हर्षवर्धन ने अपने पितामह की भाँति दिग्विजय-अभियान चलाया। बाणभट्ट के अनुसार उसकी सेना में 5,000 हाथी, 20,000 घुड़सवार तथा 50,000 पैदल थे। उसने प्रागज्योतिषपुर (असम) के राजा भास्करवर्मन (594-650) को मित्र बनाया तथा दोनों में बहुसंख्यक उपहारों का आदान-प्रदान हुआ। उसने गौड़-शासक शशांक से संघर्ष किया। उसने मालवा के शासक देवगुप्त पर अपने बहनोई के वध का बदला लेने के लिए आक्रमण किया जिसे हर्षवर्धन की अधीनता माननी पड़ी। उसने वल्लभी के शासक के विरुद्ध संघर्ष किया जिसके राज्य की सीमाएँ पश्चिमी मालवा से मिलती थीं। उसने वल्लभी-नरेश ध्रुवसेन द्वितीय (640-644) पर अपना प्रभाव स्थापित किया। बाद में वल्लभी-नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाहकर हर्ष ने अपने एक शत्रु को मित्र बना लिया। हर्षवर्धन का एक महान् संघर्ष चालुक्य-शासक पुलकेशिन द्वितीय (609-642) से 620 ई. में हुआ। यह युद्ध नर्मदा के निकट हुआ। यह युद्ध अनिर्णायक रहा। यह प्रश्न विवादास्पद ही रहा कि इस युद्ध में कौन जीता, परन्तु यह निश्चित है कि नर्मदा नदी दोनों की सीमा बन गयी।¹

हर्षवर्धन ने अब सिंध तथा गुजरात की ओर ध्यान दिया। बाणभट्ट के अनुसार उसने सिंधराज को परास्त किया। सम्भवतः इसी भाँति उसने नेपाल तथा काश्मीर प्रदेश को भी अपने आधिपत्य में लिया। नेपाल के राजा के साथ उसके मित्रता के संबंध स्थापित हुए। सम्भवतः उसने काश्मीर को भी जीता।

अतः हर्षवर्धन ने अपने जीवनकाल में ही एक विस्तृत राज्य का निर्माण किया। इतिहासकार कृ. एम. पणिकर (1895-1963) के अनुसार हर्ष ने अपने काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया तथा नेपाल का राज्य भी उसके साम्राज्य में था। हर्षवर्धन की शासन-व्यवस्था कमोबेश गुप्तकालीन व्यवस्था पर आधारित थी। उसकी राजधानी कन्नौज थी। उसी के काल में कन्नौज ने पाटलिपुत्र का स्थान लिया जो अगले 500 वर्षों तक महत्त्वपूर्ण रही। उसने भी

केन्द्र से स्थानीय शासन तक सुयोग्य व्यवस्था की। वह भी समय-समय पर चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति व्यक्तिगत रूप से शासन का निरीक्षण करता था। पर अब सजाएँ कठोर थीं तथा मार्ग भी इतने सुरक्षित न थे, ऐसा चीनी-यात्री हेन-त्सांग (602-664)¹ ने अपने अनुभवों से लिखा। अनेक प्रान्त अधीनस्थ राजाओं द्वारा संचालित होते थे।

हर्षवर्धन भी भारत के अन्य महान् शासकों की भाँति माना जाता है, परन्तु उसकी महानता उसकी विजयों से ज्यादा उसके सांस्कृतिक जीवन में किए गए प्रयासों के फलस्वरूप थी। सम्भवतः वह पहले शैव था, परन्तु बाद में बौद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट हुआ। उसकी धार्मिक नीति सहिष्णुता तथा उदारता की थी। उसने अपने जीवनकाल में दो अद्वितीय महासम्मेलनों का आयोजन किया था। पहला महासम्मेलन कन्नौज में एक विशाल बौद्ध-सम्मेलन के रूप में था जिसमें 20 देशों के राजा उपस्थित थे। इसमें हेन-त्सांग ने भी भाग लिया था। इसमें विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों का भी स्वागत किया गया था। महायान पर विशेष चर्चा हुई थी।

एक दूसरा महासम्मेलन प्रयाग में हुआ। इस सम्मेलन में भी हेन-त्सांग को बुलाया गया था। वल्लभी तथा प्रागज्योतिषपुर के शासकों ने भी भाग लिया था। विभिन्न सम्प्रदायों के लगभग पाँच लाख लोगों ने इसमें उपस्थित थे। यह सम्मेलन 75 दिनों तक चला। विभिन्न सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की पूजा की गई तथा सभी को दान दिया गया। 'व्यक्तिगत उदारता का यह आदर्श इतिहास में अपूर्व माना जाता है।' अपनी प्रजा की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए हर्षवर्धन अथक परिश्रम करता था।² शिक्षा के क्षेत्र में भी उसका महान् योगदान था। विद्वानों का आदर तथा सम्मान किया गया था। शिक्षा का चतुर्दिक् विकास हुआ। नालन्दा तथा विक्रमशिला महाविहार शिक्षा के विशाल केन्द्र थे, हर्षवर्धन स्वयं एक विद्वान् था जिसने संस्कृत में *प्रियदर्शिका*, *रत्नावली* तथा *नागानन्द* की रचना की थी। महान् लेखक बाणभट्ट उसका मित्र था जिसने *कादम्बरी*, *हर्षचरित्र*, *पूर्वपीठिका* तथा *चण्डीशतक* की रचना की थी। मयूर नामक विद्वान् ने *सूर्यशतक* लिखा था। उड़ीसा के बौद्ध-विद्वान् जयसेन को अनेक नगरों की आय दान में दी

1. वी. ए. स्मिथ, *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, पृ. 167

1. *हेनसांग का भारत-भ्रमण*, अनुवादक : ठाकुर प्रसाद शर्मा (सुरेश) (प्रयाग, 1929)

2. राधाकृष्ण चौधरी, *पूर्वोद्धृत*, पृ. 315

गई थी, यद्यपि उसने उन्हें स्वीकार न किया था। हेन-त्सांग का भी भव्य स्वागत तथा सम्मान किया गया था।

परन्तु दुर्भाग्य से उसकी कोई स्थापत्य-कलाकृति आज उपलब्ध नहीं है। हर्षवर्धन की राजधानी कन्नौज चार मील लम्बी तथा एक मील चौड़ी, अनेक कलाकृतियों व स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूनों से भरपूर भव्य नगरी थी तथा अनेक बौद्ध तथा हिंदू-मन्दिरों से युक्त थी। 16वीं शताब्दी में शेरशाह द्वारा इस नगर को नष्ट कर दिया गया था। अतः उस काल का कोई भी भवन आज उपलब्ध नहीं है।¹

दक्षिण भारत का विकास

सामान्यतः विन्ध्याचल के दक्षिण क्षेत्र को दक्षिण भारत कहा जाता है² जो एक ओर पर्वत और दो ओर समुद्र से घिरा है। आधुनिक दृष्टि से इसमें सामान्यतः पाँच प्रान्त आते हैं। कृष्णा नदी के उत्तर के प्रदेश के पश्चिमी भाग को महाराष्ट्र और पूर्वी भाग को आंध्र कहते हैं। कृष्णा नदी के दक्षिण प्रदेशों का पश्चिम भाग कर्नाटक और पूर्वी भाग तमिलनाडु कहलाता है। सुदूर दक्षिण में पश्चिमी समुद्रतट पर केरल है।

प्राचीन काल से दक्षिण भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। सुविधा की दृष्टि से दक्षिण भारत को भी दो भागों में बाँटा जाता है। कृष्णा नदी के उत्तर के क्षेत्र को दक्षिणापथ तथा उसके दक्षिण के क्षेत्र को सुदूर दक्षिण कह सकते हैं।

राजनीतिक दृष्टि से दक्षिणापथ में चालुक्य (543-757 ई.) और राष्ट्रकूटों (754-982 ई.) की प्रमुखता रही तथा सुदूर दक्षिण में पल्लव (द्वितीय शताब्दी ई. -897 ई.), चोल (300 ई. पू. -1279 ई.), पाण्ड्य (तृतीय शताब्दी ई. पू. -1345 ई.) व चेर (केरल) (पाँचवीं शताब्दी ई. पू. -1102 ई.) की।

दक्षिण भारत के इतिहास को जानने में तमिल-साहित्य का बड़ा योगदान है। द्वितीय शताब्दी ई. पू. से लगभग द्वितीय शताब्दी ई. तक लिखे गए तमिल-साहित्य को 'संगम-साहित्य' कहते हैं। *तिरुक्कुरल* अथवा *कुरल* दक्षिण में भारतीय-संस्कृति का महान् ग्रन्थ माना जाता है। इसके अलावा संगम-साहित्य

के *पत्तुपट्टु तिरुमुरुकडुप्पदई*, *एड्डुथोकई* एवं *पतिनेन्किल्कनकु* महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। महर्षि अगस्त्य ने भारतीय-संस्कृति के विस्तार में प्रमुख योगदान किया। दक्षिण भारत में ब्राह्मी-लिपि तथा संस्कृत का प्रचार हुआ। वस्तुतः वैदिक संस्कृति तथा संस्कृत-भाषा की जड़ें आज भी दक्षिण भारत में अत्यन्त गहरी हैं जो उत्तर भारत में दिखाई नहीं देतीं। यद्यपि यह सत्य है कि दक्षिण भारत के इतिहास जानने के साधन बहुत कम हैं।

मोटे रूप से दक्षिण भारत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चालुक्य वंश के शासक हुए जो इतिहास में वातापी (बीजापुर ज़िला) के चालुक्य रहे जिनका शासनकाल 543-757 ई. रहा। इनमें पुलकेशिन द्वितीय (609-642 ई.) एक शक्तिशाली शासक हुआ जिसका संघर्ष सम्राट् हर्षवर्धन से हुआ था। इसी भाँति कुछ कालोपरान्त कल्याणी के चालुक्य हुए जिनका शासनकाल 973-1156 ई. तक रहा। इनमें तैल अहवमल्ल (973-997), सत्याश्रय, सोमेश्वर प्रथम (997-1008), सोमेश्वर द्वितीय (1068-1076), विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1127) आदि अनेक प्रसिद्ध शासक हुए। इनमें विक्रमादित्य षष्ठ सर्वाधिक प्रसिद्ध थे जो काश्मीरी-विद्वान् कल्हण तथा विज्ञानेश्वर के संरक्षक थे।

दक्षिण भारत का दूसरा प्रसिद्ध राजवंश राष्ट्रकूट वंश था जिसका राज्य विस्तार 754-982 ई. के दौरान हुआ था। इन्होंने बादामी या वातापी के चालुक्यों को पराजितकर एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण किया था। दन्तिदुर्ग (754-768) इसका संस्थापक था। इस वंश में ध्रुव (780-793), गोविन्द तृतीय (918-934), अमोघवर्ष प्रथम (814-877), कृष्णराज द्वितीय (877-915) आदि प्रसिद्ध शासक हुए। डॉ. अल्तेकर ने¹ ध्रुव को 'सुयोग्यतम शासक' माना है। अमोघवर्ष प्रथम की गणना अरब के सुलेमान ने विश्व के प्रमुख शासकों में की है। उसका राज्यकाल 63 वर्षों तक तक रहा। राष्ट्रकूटों की भारत के इतिहास को महान् देन है। उन्होंने दक्षिणापथ को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। इसे दक्षिण भारत का सबसे ओजस्वी युग माना जाता है।

सुदूर दक्षिण में पल्लव, चोल, पाण्ड्य तथा चेर का प्रभुत्व रहा। पल्लवों की राजधानी काञ्चीपुरम् थी। सिंहविष्णु (574-600 ई.) इस वंश का बड़ा प्रतापी

1. वी. ए. स्मिथ, *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, पृ. 167
2. विस्तार के लिए देखें, राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ. 394-452

1. डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, *द राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स*; जी. याज़दानी (संपादित)
दक्षिण का प्राचीन इतिहास

राजा हुआ। वह वैष्णव-सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने चोल, पाण्ड्य, कलभ्र, सिंहल तथा मलनाडु के राजाओं को परास्त किया था। इसमें अन्य प्रमुख महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630 ई.), नरसिंहवर्मन प्रथम (630-668 ई.) हुए थे। इन्हीं से चालुक्यों का पुलकेशिन लड़ता हुआ मारा गया था। इसके अलावा परमेश्वरवर्मन प्रथम (670-680 ई.), नरसिंहवर्मन द्वितीय (680-720 ई.), परमेश्वरवर्मन द्वितीय (720-731 ई.) तथा दन्तिवर्मन (795-845 ई.) हुए थे। इनके काल में काञ्चीपुरम् विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। इसी समय वैष्णव-आळवार तथा शैव-नायनमार का काल प्रारम्भ हुआ था। संस्कृत को राजभाषा बनाया गया था। काञ्ची में एक विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ था। वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ जैन तथा बौद्ध-धर्म का विकास हुआ। अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। मन्दिर-निर्माण की कई शैलियों का प्रारम्भ हुआ। कैलाश मन्दिर व महाबलीपुरम् के मन्दिर इस की कला के श्रेष्ठ नमूने हैं।

सुदूर दक्षिण में चोल वंश का शासन (846-1279 ई.) रहा था। यह राज्य पेन्नार और बेलाार नदियों के बीच पूर्वी समुद्रतट पर स्थित था। इसकी राजधानी बदलती रही थी। पहली राजधानी त्रिचनापल्ली के निकट (वरियुर, उरैयर) थी। इस वंश का पहला राजा विजयालय (846-871 ई.) था। वह दुर्गा का भक्त था। इसमें प्रसिद्ध शासक आदित्य प्रथम (871-907 ई.), परांतक प्रथम (907-947 ई.), राजराज प्रथम (985-1012 ई.), राजेन्द्र चोल (1012-1044 ई.), राजाधिराज प्रथम (1044-1052 ई.), कुलोलुंग (1035-1150 ई.) प्रसिद्ध शासक हुए। चोल-शासक अपनी शासकीय व्यवस्था के लिये सम्पूर्ण दक्षिण भारत में प्रसिद्ध थे। उनकी एक मुख्य देन उनकी सामुद्रिक शक्ति का विकास थी। इन्होंने इसके माध्यम से चीन, सुमात्रा, जावा, ईसाबेला से संबंध स्थापित किए तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में सांस्कृतिक विस्तार किया। चोलों ने पल्लवों की स्थापत्य-कला का अनुसरण करते हुए अनेक मन्दिरों का निर्माण किया था। इसमें तंजौर का मन्दिर, श्रीरंगपट्टम का मन्दिर अद्वितीय है। चोल शासक शैव थे। साथ ही उन्होंने वैष्णव, बौद्ध, जैनादि सम्प्रदायों को पूरा सम्मान दिया।

चोलों के अलावा सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य तथा चेर राज्य थे। प्रारम्भ में पाण्ड्य राज्य तिनेवल्ली, रामनाड तथा मदुरै तक सीमित था। छठी शताब्दी से इनका क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसके प्रथम दो शासक— कडुण्गोन (560-590 ई.) तथा मानवर्मन अवनी चुलामणि (590-620 ई.) थे। तीसरे

शासक जयवर्मन ने चेर प्रदेश पर आक्रमण करके अपना अधिकार किया। रणधीरण (710-735 ई.), राजसिंह प्रथम (735-765 ई.), वरगुणन प्रथम (800-830 ई.), श्रीमार श्रीवल्लभ (830-862 ई.) आदि शासक हुए। कालान्तर में मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य (1216-1238 ई.) के काल में पाण्ड्य राज्य की बड़ी उन्नति हुई थी।

चेर वंश का दक्षिण-पश्चिम समुद्रतट पर प्राचीन चेर राज्य था जहाँ आजकल मालाबार, त्रावणकोर, पुदुक्कोट हैं। चेर और केरल पर्यावाची शब्द हैं। इनका संघर्ष प्रायः पड़ोसी राज्यों के साथ होता रहता था।

संक्षेप में जहाँ दक्षिण में अनेक छोटे-छोटे राज्यों में राजनीतिक सीमाओं के विस्तार के लिए टकराव रहते हुए भी, भारतीय-धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन का अद्भुत विकास हुआ। अनेक धार्मिक समुदायों के होते हुए धार्मिक सहिष्णुता तथा स्वतन्त्र चिन्तन को महत्त्व दिया। भक्ति-आन्दोलन वस्तुतः दक्षिण भारत की प्रमुख देन है। यहाँ अनेक श्रेष्ठ दार्शनिकों का जन्म हुआ। संस्कृत-भाषा तथा साहित्य के अमूल्य ग्रन्थ लिखे गए और इतना ही नहीं विभिन्न प्रकार की मन्दिरों, मूर्तिकला, नृत्यकला का विकास हुआ। सामुद्रिक शक्ति का विकासकर भारतीय व्यापार तथा संस्कृति को विदेशों में प्रसारित किया। अतः राज्य घटते-बढ़ते रहे, परन्तु भारतभूमि के प्रति सदैव भक्ति तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की अक्षुण्ण परम्परा बनी रही।

बृहत्तर भारत¹

विगत हजारों वर्ष के ऐतिहासिक प्रमाणों तथा तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत ने प्राचीन काल में बृहत्तर भारत की स्थापना की थी। लेकिन यह न तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा औपनिवेशिक राजनैतिक प्रभुत्व एवं व्यापारिक एकाधिकार के धिनौने सिद्धान्तों पर आधारित था, न सोवियत रूस-जैसे पूर्वी यूरोप के अनेक राष्ट्रों का गला घोटकर स्थापित हुआ और न ही चीन की परम्परागत विस्तारवादी आकांक्षा की मनोवृत्ति से प्रेरित था, बल्कि यह सीधे, स्पष्ट रूप से भारत-राष्ट्र की सांस्कृतिक अधिष्ठान पर आधारित था। इसका एकमात्र मूलमन्त्र **‘वसुधैव कुटुम्बकम्’** अथवा सनातन धर्म (शाश्वत धर्म)

1. विषय की व्यापकता पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यहाँ पर इस विषय को सूत्र-रूप में स्पर्श-मात्र किया गया है।

की पुकार थी। एक वर्तमान चिन्तक पं. दीनदयाल उपाध्याय (1916-1968) की भाषा में कहें तो 'एकात्म-मानववाद' की प्रेरणा से था। इसके पीछे भारतीयों द्वारा क्षात्रबल की किसी देश से कोई प्रतिस्पर्धा न करके भारतीय-सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का मूलमन्त्र— 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'¹ का उद्देश्य था सांस्कृतिक भारत की दिग्विजय² जिसमें रक्त की एक बूँद भी नहीं बही और जिसका प्रभाव लम्बे समय तक रहा। उन्होंने कभी राज्य-स्थापना की लिप्सा न की थी। अतः भारत के ऋषि, मुनि, दार्शनिक, विद्वान्, हिंदू-सन्त तथा बौद्ध-भिक्षु अत्यन्त कष्ट सहकर, कर्तव्य-बोध से, ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को लाँघकर, बीहड़ जंगलों को पारकर, समुद्रों को लाँघकर विदेशों में गये।

बृहत्तर भारत का विस्तार साइबेरिया से सिंहल (श्रीलंका) तक तथा ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोरिनियो और बाली टापुओं तक एशिया के विशाल भूखण्ड में हुआ। बृहत्तर भारत के इस सांस्कृतिक प्रसार को भारत तथा विश्व के अनेक विद्वानों ने विशद रूप से प्रेरित हो इसका विस्तृत वर्णन किया है।³ एक विद्वान् के अनुसार यह सांस्कृतिक भारत पूर्वी दिशा में बर्मा, श्याम, चम्पा (अन्नाम), कम्बुज (कम्बोडिया), मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोरिनियो तक, जिसे यूनानी 'गंगा पार का हिंदू' या जिसे आज भी परला हिंदू कहते हैं, विस्तृत था। दक्षिण में श्रीलंका या सिंहल भारतीयों का ही आबाद किया गया क्षेत्र था, उत्तर में सम्पूर्ण मध्येशिया और अफ़ग़ानिस्तान तथा इससे 'ऊपरी हिंद' तथा पश्चिम में ईरान को भारत की भारतीय-आर्यों की सजातीय पारसियों ने आबाद किया था। पश्चिमी देशों से व्यापारिक संबंध होने के कारण बेबोलोनियन, मिस्री, यूनानी एवं ईसाई-संस्कृतियों पर भारत का विशद प्रभाव पड़ा।

इसके साथ पाश्चात्य जगत् तथा दक्षिणी अमेरिका के साथ भी भारत के

1. ऋग्वेद, 9.63.5
2. राम साठे, पूर्वोद्धृत, पृ. 53
3. राधाकृष्ण चौधरी, पूर्वोद्धृत, पृ. 453-461; भारत के प्राचीन संबंधों के लिए देखें अमृत्य सेन, *द आर्गुमेंटेटिव इण्डियन, राइटिंग्स इन इण्डियन कल्चर, हिस्ट्री एण्ड आइडेंटिटी* (पैंगुइन, 2005), पृ. 161-203; श्रीराम शर्मा आचार्य, *समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान*, 2 भाग (मथुरा, 1990); डॉ. शरद हेबाळकर, *कृण्वन्तो विश्वमार्यम्* (नयी दिल्ली, 2010)

संबंध बहुत प्राचीन हैं। मैक्सिको, जहाँ की संस्कृति को 'माया-संस्कृति' कहते हैं, में हिंदू-धर्म, संस्कृति के अनेक अवशेष मिले हैं।⁴ प्राचीन यूनान तथा रोम के साथ भारत के गहरे संबंध थे। जहाँ यूनानी भारतीय-दर्शन तथा चिकित्सा-पद्धति से अच्छे प्रभावित थे, वहाँ रोमन साम्राज्य में भारत के घनिष्ठ व्यापारिक संबंध थे।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत की विश्व को अतुलनीय सांस्कृतिक देन है। भारत के ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, धर्म, संस्कृति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में विश्व में भारत की अमिट छाप है। यह सही है कि कालान्तर में भारत तथा चीन को छोड़कर विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं का प्रायः लोप हो गया। परन्तु उनके सांस्कृतिक चिह्न उनके जीवन-दर्शन पर प्रकट होते हैं। कम-से-कम इतना तो सत्य है कि विश्व का प्रत्येक देश किसी-न-किसी रूप से, प्राचीन काल में भारत का ऋणी है और सम्भवतः यह भारत की जीवन-दृष्टि तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का ही परिणाम है और इसीलिए भारत को बार-बार 'जगद्गुरु' कहा गया है।

प्राचीन भारत—राष्ट्र का वैशिष्ट्य : निष्कर्ष

उपर्युक्त प्राचीन भारत के राष्ट्रीयता के मूल सिद्धान्तों के तथा इसके क्रियान्वयन को देखते हुए कुछ निष्कर्ष सहज में ही स्पष्ट देखे जा सकते हैं—

1. भारत विश्व का प्राचीनतम राष्ट्र है।
2. हिंदू कोई धर्म नहीं बल्कि एक समूची जीवन-पद्धति है जो किसी एक वर्ग, सम्प्रदाय, देश के लिए नहीं बल्कि मानवमात्र के लिए है तथा जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा विश्व-बन्धुत्व के महान् आदर्शों पर टिका है।
3. धर्म की दृष्टि से हिंदू विभिन्न समुदायों का एक सुन्दर समावेश है।
4. भारत-राष्ट्र की रचना के मूल सिद्धान्त मातृभूमि के प्रति अनन्य प्रेम तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की व्यवस्था अथवा रक्षा करते रहे हैं।
5. भारत में विभिन्न समयों पर अनेक राज्यों के निर्माण हुए। उनके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रहे। परन्तु उन्होंने कभी केन्द्रीयकरण, निरंकुशतन्त्र,

1. भिक्षु चमनलाल, *हिंदू अमेरिका : रिवैलिंग द स्टोरी ऑफ़ द रोमांस ऑफ़ द सूर्यवंशी हिंदूज एण्ड डिपिक्टिंग द इम्प्रिंट्स ऑफ़ हिंदू कल्चर ऑन द टू अमेरिकाज*, वाल्यूम 71 ऑफ़ भवन्स बुक यूनिवर्सिटी, प्रकाशक : भारतीय विद्या भवन (बम्बई, 1960)

सामन्तवाद को सम्मान नहीं दिया।

6. पाश्चात्य देशों के विपरीत भारत-राष्ट्र राज्यों की कल्पना को न मानकर राज्यों के राष्ट्र को मानता है।
7. भारत में उपासना-पद्धति या 'रिलीजन' को लेकर कभी विवाद या खून-खराबा नहीं हुआ, बल्कि हिंदू-धर्म प्रत्येक व्यक्ति को धर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है।
8. राजा का कोई धर्म हो, प्रत्येक की नीति सदैव दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु, उदार, समभाव की रही।
9. प्राचीन काल से ही भारत पर झुण्ड-के-झुण्ड रूप में विदेशियों के आक्रमण हुए। छठी शताब्दी ई पू से ईरानियों, यूनानियों, इण्डो-बैक्ट्रियन, इण्डो-पर्थियन, शकों, कुषाणों तथा हूणों ने अपार सेना के साथ, बर्बर ढंग से न केवल भारतभूमि पर अत्याचार-नरसंहार किए बल्कि यहाँ की संस्कृति तथा सभ्यता को नष्ट करने का प्रयत्न किया; परन्तु ये सभी आक्रमण भारत के विशाल शरीर के कुछ अंगों पर ही हुए, वह उसकी आत्मा को न छेद सके।
10. इसके विपरीत प्रायः सभी विदेशी या तो वापिस लौट गये या भारतीय-जीवन तथा संस्कृति से समरस हो गये। उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो दिया। इन्होंने भारतीय-जीवन मूल्यों को अंगीकार किया। अनेक ने हिंदू या बौद्ध-धर्म अपना लिया। उदाहरण के लिए यूनानी-सेनापति मेनाण्डर बौद्ध-धर्म अपनाकर 'मिलिन्द' बन गया। उसने स्यालकोट के बौद्ध-विद्वान् नागसेन (150 ई पू) का शिष्यत्व ग्रहण किया। यूनानी-राजदूत हेलियोडोरस (113 ई पू) तक्षशिला के एक राजा एंटियासाइड्स (130 ई पू) के काल में आधुनिक मध्यप्रदेश के विदिशा नगर गया तथा उसने विष्णुध्वज के समान गरुडध्वज की स्थापना की। राजा गोण्डोफरनीज़ (50 ई) ने शैवमत अपना लिया। कुषाण-शासक बौद्धमत के उपासक बन गये। उन्होंने धार्मिक उदारता तथा परस्पर सहयोग में वृद्धि की। अतः यह क्रम हर्षवर्धन के काल (606-647 ई) तक अबाध गति से चलता रहा।
11. भारत में अद्भुत साहस, शौर्य की परम्परा निरन्तर बनी रही। उदाहरणतः

पंजाब में यद्यपि छोटे-छोटे अनेक राज्य थे, परन्तु प्रत्येक का सैनिक बल जनसंख्या के अनुपात में पर्याप्त था। उनके संघर्षों में निरन्तरता तथा जुझारूपन था। ईरान की पराजय, सिकन्दर की महत्वाकांक्षाओं पर तुषारपात, हूण-जैसी क्रूर तथा बर्बर शक्ति, जिसने रोम के साम्राज्य को नष्ट कर दिया, उनकी नाक में नकेल डालना आदि भारतीयों की वीरता तथा शौर्य का परिचायक है।

12. इसके अलावा भारत की कमज़ोरी का भी ध्यान आया। परस्पर कटुता तथा संघर्ष तथा सामूहिक संघर्षों की उपेक्षा ने भारत की राजनीति को कमज़ोरी का भी अहसास कराया।
13. चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित उत्तर-पश्चिम सीमा-सुरक्षा भारतीयों का लक्ष्य बन गया तथा गुप्त तथा वर्धन-शासकों के लिए वह लक्ष्य बना रहा।
14. भारत अपने राष्ट्रीय वैशिष्ट्य अर्थात् भारत माँ अथवा भूमि के प्रति अटूट भक्ति, श्रद्धा तथा समर्पण तथा उच्च सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के कारण विश्व का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र बन सका। मुख्यतः गुप्तकाल से लेकर 13वीं शताब्दी तक भारत ने अपने चहुँओर सांस्कृतिक विस्तार किया, इसमें दक्षिण भारत का प्रमुख योगदान रहा। वस्तुतः यह सांस्कृतिक विरासत आज भी भारत को विश्व से जोड़नेवाली सबसे मज़बूत कड़ी है।

अध्याय-तीन

भारत में मुस्लिम शासन तथा राष्ट्रवाद

सातवीं शताब्दी में अरब की धरती पर इस्लाम का आविर्भाव विश्व-इतिहास में एक महान् परिवर्तनकारी घटना थी। सेमेटिक-धर्मों में यह यहूदी तथा ईसाई धर्म के पश्चात् तीसरा व विश्व में नवीनतम था। परन्तु प्रचार तथा प्रसार की दृष्टि से यह तीव्रतम तथा प्रभावी था। इस्लाम की आँधी ने न केवल अरब-प्रायद्वीप, बल्कि समूचे विश्व को झकझोर दिया।

इस्लाम : एक मजहबी राजनैतिक आन्दोलन

इस्लाम प्रारम्भ से ही एक मजहबी उन्माद से भरपूर आन्दोलन रहा है। इसका उद्देश्य 'दार-उल्-हरब' को 'दार-उल्-इस्लाम' बनाना रहा अर्थात् विश्व का इस्लामीकरण करना रहा है। इसका सर्वोच्च आदर्श हज़रत मुहम्मद साहब का जीवन तथा पवित्र कुरआन की आयतें रहा। इस्लाम में व्यक्तियों के सभी क्रियाकलापों का केन्द्र-बिन्दु, मार्गदर्शक-तत्त्व 'मजहब' रहा है।

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ कृष्ण वल्लभ पालीवाल¹ ने सार रूप में इस्लाम-मजहब का विश्लेषण करते हुए लिखा, 'इस्लाम एक धर्म-प्रेरित मुहम्मदीय राजनैतिक आन्दोलन है। कुरआन जिसका दर्शन, पैगंबर मुहम्मद, जिसके आदर्श, हदीसों जिसका व्यवहारशास्त्र, शरियत जिसका विधि-विधान, जिहाद जिसकी कार्यप्रणाली, मुसलमान जिसके सैनिक, मदरसे प्रशिक्षण-केन्द्र, गैर-मुस्लिम राज्य जिसकी युद्धभूमि और विश्व इस्लामी साम्राज्य जिसका अन्तिम उद्देश्य है।'

1. जयदीप सेन, *भारत में जिहाद* (नयी दिल्ली, 2001), देखें प्रथम पृष्ठ

इस्लाम¹ एक अरबी-शब्द 'सलाम' से बना है जिसका अर्थ है झुकना, स्वीकार करना, समर्पण² अथवा खुदा की मर्जी पर छोड़ देना। प्रसिद्ध विद्वान् सैयद अमीर अली³ इसे केवल खुदा की मर्जी पर नहीं, बल्कि वह इसके सच्चाई के बल पर जोर देते हैं। इसके साथ 'मुस्लिम' शब्द से तात्पर्य इस्लाम में आस्था रखनेवालों से है⁴ जो इसकी राजनैतिक मानसिकता को भी बतलाते हैं। 'मुस्लिम' अरबी-शब्द के उच्चारण के साथ 'मोसलिम' शब्द क्रमशः फ़ारसी तथा 'मुसलमान' शब्द तुर्की के प्रभाव को दर्शाता है। कुछ विद्वानों ने इसे 'मोहम्मडन' भी कहा है तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण इन्हें 'मोहम्टेन' भी कहा गया है।⁵

अतः यह विभिन्न शब्दावली तथा अर्थों में प्रयुक्त हुआ, जैसे— विश्वास, सभ्यता, स्थान, समुदाय, मजहब, इस्लामी-विश्व आदि।⁶ वस्तुतः इन अर्थों से भ्रम ही अधिक फैला। यह आश्चर्यजनक है कि विश्व में 'इस्लाम' का अरबी-शब्द ही सर्वाधिक प्रचलित है। जबकि विश्व के 5/6 से भी अधिक मुस्लिम अरबी-भाषा से अपरिचित हैं।⁷ नोबेल पुरस्कार विजेता सर वी॰ एस॰ नायपॉल (जन्म : 1932) का मानना है⁸ कि इस्लाम मूल रूप से एक अरबी-धर्म है। जो भी मुस्लिम अरबी नहीं है, वह धर्मांतरित हुआ है। इस्लाम केवल निजी विश्वास या अन्तरात्मा का विषय नहीं है, उसकी साम्राज्यवादी माँगें जुड़ी हैं। एक धर्मांतरित व्यक्ति का विश्व-दृष्टिकोण बदल चुका होता है। वह अपने देश के अतीत से कट जाता है।

1. विस्तार के लिये देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम शासक तथा भारतीय-जनसमाज* (नयी दिल्ली, 2007), पृ॰ 15
2. ज्योफरी परिन्दर (सं॰) *एन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री ऑफ़ वल्ड्स रिलीजन्स* (ग्रेट ब्रिटेन, 1983), पृ॰ 462
3. सैयद अमीर अली, *द स्पिरिट ऑफ़ इस्लाम*
4. नशीर इकबाल, 'ग्रेपेल्स विद डैफिनिशन ऑफ़ मुस्लिम', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया*, 05 अगस्त, 2005
5. डेनियल पाइप्स, *इन द पाथ ऑफ़ गॉड, इस्लाम एण्ड पॉलिटिकल पावर* (नयी दिल्ली, पृ॰ सं॰ 1983, रिप्रिंट 2006), पृ॰ 14
6. *वही*, पृ॰ 19
7. *वही*, पृ॰ 19
8. वी॰ एस॰ नायपॉल, *बियॉन्ड बिलीफ़ : इस्लामिक एक्सकर्शन्स एमंग द कन्वर्टेड पीपुल* (पेंगुइन, 2001)

एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् के अनुसार¹, 'इस्लाम की प्रकृति प्रारम्भ से ही विस्तारवादी रही है और विश्वासों के इस साम्राज्यवाद का मौलिक चरित्र अपने धर्मानुयायियों को असहिष्णुता व हिंसा के निर्देश देने के अलावा ग़ैर-ईमानवालों या विधर्मियों के विरुद्ध की जानेवाली कार्रवाई में देश और समाज की सीमाएँ नहीं मानता है।'

इस्लाम में मज़हबी, राजनैतिक अथवा साम्राज्यवाद का सबसे प्रमुख अंग 'जिहाद' है। यह शब्द अरबी भाषा के 'जुहद' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है प्रयत्न करना। किन्तु इस्लाम के धार्मिक अर्थ में जो शब्द प्रयोग होता है वह है 'जिहाद फ़ी सबी अल्लाह' यानि अल्लाह के लिए या 'अल्लाह के मार्ग में जिहाद करना'²। उल्लेखनीय है कि इस्लामी-धर्मग्रन्थ जिहाद के आदेशों, निर्देशों व आज्ञाओं से भरे पड़े हैं और इसमें विचार-विनिमय एवं पारस्परिक सहमति के लिए कोई भी स्थान नहीं है।³ पाकिस्तानी-सेना के ब्रिगेडियर एसृ क़े मलिक का विचार⁴ है कि युद्ध अल्लाह के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही लड़ा जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री सुहास मजूमदार ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक का नाम ही रखा है : 'जिहाद, द इस्लामिक डॉक्ट्रिन ऑफ़ परमानेंट वार'। अतः जिहाद ग़ैर-मुसलमानों का एक अन्तहीन संघर्ष है जिसे मज़हब के कर्तव्य के रूप में बतलाया गया है। इस पुस्तक के पाँच विभिन्न अध्यायों में पाँच महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं।⁵ अर्थात् इस्लाम के विस्तार के लिए शक्ति और ज़बरदस्ती का समर्थन, काफ़िरों के विनाश की आवश्यकता, पराजित क्षेत्रों की काफ़िर जनता से जज़िया वसूल करना एक धार्मिक कर्तव्य, काफ़िरों की सम्पत्ति को लूटना वैध बतलाना तथा पराजय के बाद काफ़िरों की महिलाओं और बच्चों को दास बनाना। संक्षेप में जिहाद एक बहुआयामी युद्ध है जिसका उद्देश्य इस्लाम का

प्रचार तथा ग़ैर-इस्लामी धर्मों का दमन तथा विनाश करना है।¹ जिहाद में भाग लेने से सभी पापों को माफ़ किया जा सकता है। यूरोप में फ़्रांस (ईसाई) तथा तारे (इस्लाम) के बीच अनेक भयंकर तथा लम्बे संघर्ष हुए। ग़ैर-मुसलमानों को मज़हब परिवर्तन के लिए बाध्य किया गया। ग़ैर-मुसलमानों को अनेक कष्ट दिए गये। उन्हें तीन मार्गों में से एक चुनने के लिए बाध्य किया गया— इस्लाम-धर्म क़बूल करना, भूमि छोड़कर भाग जाना या जज़िया देना। इन व्यक्तियों को 'जिम्मी' भी कहा गया। प्रारम्भ में यह शब्द केवल यहूदियों तथा ईसाइयों के लिए प्रयुक्त हुआ। ग़ैर-मुसलमानों को 'काफ़िर' कहा गया है। 1453 ई. में कुस्तुनतुनिया के पतन से विश्व-इतिहास में परिवर्तन हुआ तथा जिहादी-आक्रमणों का दौर कम हुआ।²

इस्लाम तथा राष्ट्रीयता

इस्लाम राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद को स्वीकार नहीं करता। इस्लाम राष्ट्रवाद को बाधक नहीं बल्कि मज़हब के विरुद्ध मानता है। जमात-ए-इस्लामी के विश्व-विख्यात विद्वान् मौलवी अबुल आला मौदूदी³ का कथन इस सन्दर्भ में सारगर्भित है। उसका कथन है,

'इस्लाम और राष्ट्रीयता— दोनों भावना तथा अपने मक़सद के लिहाज़ से एक-दूसरे के विरोधी हैं। जहाँ इस्लाम है, वहाँ राष्ट्रीयता के लिए कोई जगह नहीं है। राष्ट्रीयता की तरीकी का मायना यह है कि इस्लाम के फैलाने का रास्ता बन्द हो जाए और इस्लाम के मायने यह है कि राष्ट्रीयता की जड़ बुनियाद से उखाड़ दी जाये। अतः यह ज़ाहिर है कि एक शख्स एक वक़्त में इन दोनों में से किसी एक की ही तरक्की का हामी हो सकता है।'

मौदूदी ने राष्ट्रवाद को शैतान तथा देशभक्ति को शैतानी वसुल (बड़ी बुराई) बतलाया। उसने राष्ट्रवाद को मुसलमानों की एक जहालत बतलाया तथा

1. हरिकृष्ण निगम, 'इस्लाम और स्वाभिमानि सिख पंथ', राष्ट्रधर्म (मई, 2004), पृ 21
2. रामस्वरूप, अण्डरस्टेण्डिंग इस्लाम थ्रू हदीस, रिलीजन फेथ, ऑर फेनिटिज़्म (नयी दिल्ली, 1984), पृ vii; जयदीप सेन, पूर्वोद्धृत
3. वही
4. एसृ क़े मलिक, कुरानिक कॉन्सैप्ट ऑफ़ वार, पृ 54
5. विस्तार के लिए देखें, सुहास मजूमदार, जिहाद : द इस्लामिक डॉक्ट्रिन ऑफ़ परमानेंट वार (नयी दिल्ली, 1994)

1. डॉ. कृष्ण वल्लभ पालीवाल, 'इस्लाम की धार, जिहाद की तलवार', राष्ट्रधर्म (अक्टूबर, 2006), पृ 31-34
2. एसृ जी मिश्र, हिस्ट्री ऑफ़ फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया (1857-1947 ई.) (नयी दिल्ली, 1991), पृ 21
3. पुरुषोत्तम सिंह योग, 'अलगाव की राजनीति के विषयी', पाञ्चजन्य (26 अप्रैल, 1990)

इन दोनों को यूरोप की देन माना है जो स्वार्थ की नींव पर खड़ा है।¹

संक्षेप में इस्लाम न राष्ट्रवाद को मानता है और न ही विश्व-बन्धुत्व को। वह केवल मज़हब को मानता है तथा केवल मुस्लिम-भ्रातृत्व में विश्वास करता है। यद्यपि समय-समय पर स्वार्थ तथा महत्वाकांक्षावश मुस्लिम आपस में भी टकराते रहते हैं। परन्तु यह सत्य है कि मज़हब के आगे वे अपनी जन्मभूमि, अपने परिवार तथा देश से नाता तोड़ देते हैं।

भारत में इस्लामी राष्ट्रीयता का स्वरूप

इस्लाम का प्रचार तथा प्रसार हज़रत मुहम्मद साहब (570-632) के काल से ही होने लगा था। यह माना जाता है कि हज़रत मुहम्मद साहब ने अपने आसपास के क्षेत्रों में अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। मदीना-जैसे नगर-राज्य को विश्व-राज्य बनाने के प्रयत्न उनके जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गए थे।

सन् 632 ई. में मुहम्मद साहब के मरते ही, इस्लाम के मज़हबी उन्माद से ग्रसित, विश्व में राजनैतिक सत्ता हथियाने के प्रबल प्रयत्न हुए। खलीफ़ा अबू बकर (632-634) के नेतृत्व में जुलाई, 634 ई. में बाइज़न्टाइन को हराकर सम्पूर्ण फिलिस्तीन पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। सीरिया तथा मेसोपोटामिया पर आक्रमण किए गये। शीघ्र ही सीरिया, मिस्र, इराक़, ईरान, त्रिपोली, मंगोलिया, बुखारा, जॉर्जिया तथा अज़रबैजान पर अधिकार कर लिया गया। अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान तथा सिंध पर भी आक्रमण किए गये। उमय्यद-वंश (681-750) के खलीफ़ा वालिद प्रथम (705-715) के काल (712 ई.) में मुहम्मद बिन कासिम (695-715) का सिंध पर आक्रमण हुआ। इसी काल में इस्लाम का प्रभाव यूरोप में स्पेन तक बढ़ा। 711 ई. में मूसा तथा तारीक ने स्पेन पर क़ब्ज़ा कर लिया। 720 ई. में पिरनेज पर्वत-शृंखलाओं को पारकर इस्लाम के अनुयायियों ने दक्षिणी फ्रांस पर भी आक्रमण किया, परन्तु शीघ्र ही उन्हें वहाँ से भगा दिया गया।

सन् 750 ई. में अब्दुल्ला अब्बास ने एक सफल विद्रोहकर उमय्यद-वंश (सीरिया का) को नष्ट कर दिया। विश्व-प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स (1866-1946) ने इस परिवर्तन का वीभत्स वर्णन किया है। अब्बासीद-वंश का

18. वचनेश त्रिपाठी, 'राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति शैतानी बुराइयाँ हैं' *पाञ्चजन्य* (21 जून, 1987); मौलाना मौदूदी, *नेशनलिज़्म एण्ड इण्डिया* (द्वि. सं., पठानकोट, 1947), पृ. 24

काल 750 ई. से 1258 ई. तक रहा। इस वंश के खलीफ़ाओं ने अपनी राजधानी दमिश्क की जगह बग़दाद बनायी। इन्होंने अरबों के साथ कोई लगाव न दिखलाया। सुन्नी के स्थान पर मुसलमानों के शिया-मत को महत्त्व दिया गया।¹

मुहम्मद बिन कासिम के असफल प्रयास

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ विश्व में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार में लगभग एक शताब्दी से भी कम समय लगा, वहाँ भारत में इसकी जड़ें जमाने के प्रयास में लगभग पाँच शताब्दियाँ लगीं। मोहम्मद गोरी (1173-1206) के आक्रमण के पश्चात् भी भारत का सीमित क्षेत्र ही इस्लाम के प्रभाव में आ सका। इन पाँच सौ वर्षों में मुख्यतः तीन अंतराल में भारत पर मुस्लिम-आक्रमण हुए। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से पूर्व भारत में मुसलमानों के चौदह अथवा पन्द्रह बार आक्रमण हुए। विद्वानों ने विभिन्न आक्रमणों के नेतृत्व करनेवाले सेनापतियों के नामों का ब्यौरा तथा सेना की संख्या भी दी है।² मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से पूर्व देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अत्यधिक उन्नत था परन्तु देश में राजनैतिक अस्थिरता थी। सम्राट् हर्षवर्धन के पश्चात् देश में राजनैतिक एकता कम थी। भारत के विभिन्न प्रदेशों के राजाओं ने इस विदेशी-आक्रमण की राष्ट्रव्यापी चुनौती को रोकने का सामूहिक प्रयास न किया।³ अरबों का पहला आक्रमण 636-637 ई. में हुआ था। इसी काल में 639-640 ई. में उन्होंने ईरान को नष्ट कर दिया था। 660-711 ई. के दौरान भी इन विदेशी आक्रमणकारियों की गतिविधियाँ चलती रही थीं। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण का मुकाबला सिंध-प्रदेश के तत्कालीन वीर शासक राजा दाहिर (679-711) ने किया। मुहम्मद बिन कासिम ने 712 ई. में देवल (कराची) पर आक्रमण किया तथा देवल के प्रसिद्ध मन्दिर पर लहराते भगवा ध्वज को योजनापूर्वक गिरा दिया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतीक इस अजेय ध्वज के गिरने से भारतीयों का मनोबल कम हुआ। कहा जाता है कि इसके पश्चात् मुहम्मद बिन कासिम को सिंध-विजय करने में सरलता हुई।

1. एस्. आर्. शर्मा, *द क्रिसेंट इन इण्डिया* (आगरा, 1954), पृ. 33

2. के. आर्. मल्कानी, *द सिंध स्टोरी*; रामगोपाल, *मुस्लिम रूल इन इण्डिया* (देखें सिकन्दर बख्त की भूमिका)

3. विलियम वोन पोकेहेमर, *इण्डियाज़ रोड टू नेशनहुड : ए पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन सब-कान्टिनेन्ट* (नयी दिल्ली, 1981), पृ. 3

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण पूर्णतः मज़हबी उन्माद से किया गया था, क्योंकि सिंध-प्रदेश न कोई उपजाऊ प्रांत था और न ही उसकी अधिक आय थी। आक्रमण का उद्देश्य इस्लाम का प्रचार तथा जिहाद की तीव्र भावना थी। सिंध की क्षणिक विजय के पश्चात् कासिम ने वहाँ नृशंस हत्याकाण्ड किए, जो भारत के इतिहास में इस्लाम द्वारा किया गया पहला हत्याकाण्ड था। भारतीयों के इस्लाम-धर्म न अपनाने पर सत्रह वर्ष तक के युवकों का क़त्ल किया गया तथा महिलाओं तथा बच्चों को गुलाम बनाया गया।¹ मन्दिर को गिराकर मस्जिद बनवा दी गयी। खलीफ़ा के नाम का खुतबा पढ़ा गया। एक विद्वान् के अनुसार, 'यह संघर्ष इतना भयंकर था कि इससे पहले कभी न सुना गया था।'² सिंध के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'चचनामा' में इसे एक 'साहसी युद्ध'³ कहा गया है। राजा दाहिर ने अपनी भूमि की रक्षा के लिए बलिदान दिया। इतना ही नहीं उसकी दो पुत्रियों—सूरजदेवी तथा परमाल देवी ने अपने कौमार्य की रक्षा के लिए क़िले की दीवार से कूदकर जान दे दी। राजा दाहिर की पत्नी ने जौहर किया।

विचारणीय विषय है कि लगभग 76 वर्षों के सतत प्रयत्नों (636-712 ई) अथवा भारत पर पन्द्रह आक्रमणों के पश्चात् क्या विदेशी आक्रमणकारियों को भारत में सफलता मिली? तथ्य तो यह बतलाते हैं कि अरब-आक्रमणकारियों को अपने सिद्धान्तों की बलि देकर, जिहाद के विचार को छोड़कर, यहाँ के लोगों (काफ़िरों) के साथ अपनी सुरक्षा के लिए मित्रता करनी पड़ी।⁴ विश्व-इतिहास में अभी तक कहीं भी अरबों को राजनीतिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर इतना संघर्ष न करना पड़ा था, जितना भारत में।⁵ बग़दाद के हज्जाज ने मुहम्मद बिन कासिम को हिंदुओं के साथ कठोरतापूर्वक निबटने के आदेश भेजे थे, परन्तु उसने हिंदुओं को सुविधाएँ देनी प्रारम्भ कर दीं।⁶ वास्तव में यह मुहम्मद बिन कासिम

1. चचनामा (अनु. कालुचबेग), उद्धृत, इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री एज टोल्ड बाई इट्स ऑन हिस्टोरियन्स, भाग-1, पृ. 52, 54; बुलजले हेग, द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग-3, पृ. 3
2. अलु विलाधुरी (उद्धृत); इलियट एण्ड डाउसन, पूर्वोद्धृत, भाग-1, पृ. 170
3. चचनामा (उद्धृत), वही, भाग-1, पृ. 82
4. डॉ. रामगोपाल मिश्र, इण्डियन रेजीस्टेन्स टू अलर्ली मुस्लिम इनवेडर्स अपटू 1206 (मेरठ), पृ. 20
5. वही, पृ. 22
6. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, द सलतनत ऑफ़ दिल्ली (आगरा, 1950), पृ. 33

की उदारता नहीं, बल्कि मज़बूरी थी। विदेशी विद्वानों ने भी सिंध के मुस्लिम-आक्रमण को 'एक साधारण तथा महत्त्वहीन घटना' कहा है।¹

इसके विपरीत यहाँ की उन्नत भारतीय-संस्कृति का अरब-जगत् पर बड़ा प्रभाव हुआ। एच. जी. वेल्स के अनुसार, 'मध्ययुग में जहाँ चोरी व अविद्या का प्रचार था, वहाँ ज्ञान का दीपक अरबों को भारत से प्राप्त हुआ।' भारत के अनेक ग्रन्थ बग़दाद लाए गये। इनमें ब्रह्मगुप्त (598-668) का ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ प्रसिद्ध है। आयुर्वेद, दर्शन, ज्योतिष, भूगोल आदि के अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया। बग़दाद के सर्वाधिक प्रसिद्ध खलीफ़ा हारुन-अल्-रशीद (786-809) ने एक बीमारी के उपचार के लिए भारतीय-वैद्य बुलाये। वस्तुतः अरब भारतवर्ष की सभ्यता की उच्चता, हिंदू-धार्मिक विचारों की उदारता तथा हिंदू-बौद्धिकता की विशालता तथा संपन्नता देखकर, आश्चर्यचकित हो गया तथा उसमें एक अद्भुत क्रान्ति हुई।² मुसलमानों को लगा कि ईश्वर की एकता के सिद्धान्त की जानकारी तो भारतीयों को पहले से ही है।³

सिंध और मुल्तान (प्राचीन नाम मूलस्थानपुर) के हिंदू, अरबों द्वारा आक्रमण होने पर भी अपने धर्म की रक्षा करने में समर्थ रहे। 'मुसलमानों की रूक्ष सभ्यता और कठोर धर्म, हिंदुओं की प्राचीन समृद्ध संस्कृति, गहन दर्शन और कर्मकाण्ड के सामने लड़खड़ा गये।'⁴ हिंदू-धर्म की सांस्कृतिक विरासत बराबर बनी रही। सम्राट् हर्षवर्धन से राजा भोज तक— सभी ने इसके वर्चस्व को स्वीकार किया।

परन्तु इसके दो दूरगामी परिणाम भी अवश्य हुए। हिंदू-धर्म की सांस्कृतिक विरासत निरन्तर बनी रही, परन्तु इसकी आत्मसात् करने की शक्ति कम हुई। पूर्व के सभी विदेशी आक्रमणों में प्रायः सभी आक्रमणकारी हिंदू-संस्कृति में एकरस या विलीन हो गए थे, पर अब ऐसा तीव्र गति से न हुआ। दूसरे, राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी आक्रमणों के प्रति सतत जागरुकता तथा सामूहिक प्रतिरोध की भावना कम हुई जिससे भारत-राष्ट्र की सुदृढ़ता कमज़ोर

1. स्टेनली लेन-पूल, मेडिवल इण्डिया अण्डर मोहम्मडन रूल (712-1764 ई) (पृ. सं. 1903, रिप्रिंट लन्दन, 1925), पृ. 12
2. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल इण्डिया (इलाहाबाद, 1933), पृ. 73
3. वही, पृ. 75
4. स्टेनली लेन-पूल, पूर्वोद्धृत, पृ. 12

हुई।

महमूद गज़नवी के सांस्कृतिक आक्रमण

भारत पर मुसलमानों के छोटे-मोटे आक्रमण होते रहे तथा भारतीयों द्वारा उनका सतत प्रतिरोध होता रहा। इस दिशा में दूसरे मुख्य आक्रमण महमूद गज़नवी के काल (997-1030 ई.) में हुए। उसने भारतभूमि पर 17 बार आक्रमण किये। उसके भारत पर आक्रमण का सिलसिला जिहाद की भावना से था। तत्कालीन इतिहासकार उत्बी ने अपने ग्रन्थ *तारीख-ए-यामिनी* में आक्रमणों का यही मुख्य कारण बतलाया है। हिंदू में धार्मिक युद्ध में लगना उसे पसन्द था¹ तथा इस्लाम में उसकी अपार श्रद्धा थी और उसे लगता था कि अकारण ही भारतीय-काफ़िरों के राज्य पर आक्रमणकर वह इस्लाम की सेवा कर रहा है।² मन्दिरों को लूटना और इस्लाम को महिमामण्डितकर इस्लाम के प्रचार को अपना मुख्य कर्तव्य मानता था। उसने खलीफ़ा से अमीनुद्दौला अर्थात् साम्राज्य का दाहिना हाथ तथा अमीर-उल-मिल्लत यानि मुसलमानों का संरक्षक की उपाधि प्राप्त की थी।

महमूद गज़नवी ने मुख्यतः अपने आक्रमण हिंदुओं के आस्था, विश्वास तथा श्रद्धा-केन्द्रों पर किये। इसमें नगरकोट, थानेसर (थानेश्वर), मथुरा तथा सोमनाथ प्रमुख हैं। सभी स्थानों पर भयंकर संघर्ष हुए। नगरकोट में महमूद ने अपार धनराशि प्राप्त की।³ मथुरा के बारे में गज़नी ने स्वयं एक पत्र में लिखा कि यहाँ 'मन्दिर तो इतनी अधिक संख्या में हैं कि मैं उन्हें तोड़ते-तोड़ते थक गया हूँ।'⁴ इसी भाँति उसने सोमनाथ मन्दिर के बारे में सुना था कि हिंदुओं का विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा शरीर से अलग होकर सोमनाथ मन्दिर में प्रविष्ट होती है और सोमनाथ भगवान् हर आत्मा के कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म प्रदान करते हैं।⁵

भारतीय-इतिहासकारों तथा साहित्यकारों ने भारतीय-संस्कृति एवं

इसके लिए संघर्ष के बारे में इसका विशद वर्णन किया है।¹ परन्तु कुछ मार्क्सवादी एवं मुस्लिम-इतिहासकारों— प्रो. मोहम्मद हबीब, के. ए. निजामी, जाफर तथा प्रो. सतीश चन्द्र ने उसके आक्रमणों का उद्देश्य मज़हबी उन्माद न मानकर केवल धन-प्राप्ति की इच्छा बतलाया है जो पूर्णतः असत्य तथा तथ्यों पर आधारित नहीं है। रोमिला थापर ने एक 13वीं शताब्दी के अरबी-स्रोत का हवाला देते हुए लिखा कि महमूद किसी मन्दिर को तोड़ने नहीं आया था बल्कि वह अरब की किसी पुरानी देवी की मूर्ति ढूँढ़ने आया था जिसे स्वयं पैगंबर साहब ने तोड़ने का हुक्म दिया था।² महमूद को यह आशा थी कि उसके ध्वंस से हिंदू-जगत् मुसलमान बन जायेगा।³ परन्तु थापर का यह काल्पनिक तर्क प्राप्त साधनों तथा महमूद गज़नवी के विचारों से तनिक भी मेल नहीं खाता। अतः यह पूर्णतः अमान्य है।

यहाँ यह लिखना किञ्चित् भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि सोमनाथ का मन्दिर न केवल धन-सम्पत्ति का अक्षय भण्डार था बल्कि भारतीय-राष्ट्रीय जीवन की सांस्कृतिक एकता तथा श्रद्धा का प्रतीक था। इसके सन्दर्भ में तत्कालीन तथा वर्तमान कुछ मुस्लिम-इतिहासकारों ने जान-बूझकर पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया। गुजरात की भूमि पर यह संघर्षमात्र न था बल्कि इसके रक्षार्थ देश के हज़ारों वीरों ने अपना रक्त बहाया था। उल्लेखनीय है कि लगभग एक हज़ार वर्ष पहले इसकी स्मृति को इन वीरों में एक जाहर वीर गोगाजी चौहान⁴ की स्मृति में प्रति वर्ष मेले के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में, विशेषकर उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात में मनाया जाता है। महमूद गज़नवी की सेनाओं को रोकने तथा संघर्ष में 90-वर्षीय गोगा जी महाराज (935-1025) के पुत्र तथा पौत्र मारे गए थे। बाद में सम्भवतः फ़िरोज़शाह तुग़लक़ के काल (1351-1388) में 'गोगावीर' को 'गोगापीर' कहकर षड्यन्त्र किया गया था। एक विद्वान् ने महमूद के आक्रमणों की समीक्षा करते

1. डॉ. आशीर्वादलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 60
2. वही, पृ. 60
3. मुल्ला मुहम्मद, कासिम हिंदूशाह फ़रिश्ता, *तारीख-ए-फ़रिश्ता* (फ़ारसी से हिंदी-अनुवाद डॉ. नरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव) (लखनऊ, 2003), पृ. 47
4. वही, पृ. 53
5. वही, पृ. 59

1. भीषण संघर्ष के विशद वर्णन के लिए देखें, डॉ. रामगोपाल मिश्र, पूर्वोद्धृत; अशोक कुमार सिंह का शोध-ग्रन्थ, *सल्तनतकालीन हिंदू-प्रतिरोध*; के. एम्. मुंशी, *जय सोमनाथ*; आचार्य चतुरसेन शास्त्री, *सोमनाथ*; सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज*, पृ. 33-35
2. रोमिला थापर, *ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, भाग-1 (पेंगुइन, ग्रेट ब्रिटेन, 1966 रिप्रिंट, 1984), पृ. 232-234
3. वही, पृ. 233; एस. शंकर, रोमिला थापर का महमूद, *दैनिक जागरण* (1 जून, 2004)
4. ओमप्रकाश, *जाहवीर गोगा जी चौहान (धर्मरक्षक गोगा बापा की बलिदान गाथा)* (उदयपुर, 2011)

हुए लिखा, ‘(ये आक्रमण) डाकाजनी व सामूहिक हत्याकाण्ड से अधिक न थे, यदि उनपर इस्लाम धर्म के प्रचार का लेबल न लगा होता।’¹

निश्चय ही महमूद गज़नवी के भारत पर 17 आक्रमण अत्यधिक ध्वंसकारी तथा विनाशक थे। उसने धर्मांतरण, जनसंहार तथा भयंकर लूटपाट की। अनेक ऐतिहासिक मन्दिरों तथा भवनों को नष्ट किया। गुप्तकालीन कलाकृतियों तथा स्थापत्य-कला के नमूने नष्ट किये। अनेक अमूल्य मूर्तियों को तोड़ दिया। वह अपार सम्पत्ति को गज़नी ले गया। दसों हज़ार हिंदुओं को कैदी के रूप में ले गया तथा जिन्हें गुलामों के रूप में बेचा गया।² अनेक को बलपूर्वक धर्मांतरित किया।³ इससे पूर्व एक ओर जहाँ मुहम्मद बिन कासिम ने कुछ हज़ार लोगों का वध किया था, वहाँ गज़नवी ने लाखों व्यक्तियों का वध किया।⁴

भारत से अचानक प्राप्त चकाचौंध करनेवाली सम्पत्ति को देखकर महमूद गज़नवी के भानजे (महमूद की बहिन मौला का पुत्र) सालार मसूद ने ग्यारह लाख की विशाल सेना के साथ भारत पर आक्रमण किया। भारतभूमि पर इतनी विशाल सेना के साथ यह पहला विदेशी आक्रमण था। इस भीषण युद्ध का वर्णन जहांगीरयुगीन लेखक अब्दुरहमान चिश्ती⁵ ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक *मीरत-ए-मसूदी* में विस्तार से किया है। तत्कालीन सत्रह हिंदू-शासकों ने बहराइच में मसूद की विशाल सेना को घेरने की कोशिश की। 14 जून, 1033 ई के इस घमासान तथा परिणामकारी युद्ध में सालार मसूद का सर्वनाश हुआ।⁶ वह स्वयं इस युद्ध में मारा गया। इस भयंकर पराजय का समाचार देने वाला एक भी मुसलमान नहीं बचा। *मीरत-ए-मसूदी* के अनुसार ‘सालार मसूद की मृत्यु के पश्चात् अजमेर में मुजफ्फर खाँ भी मारा गया। उसके उत्तराधिकारियों को

1. विलियम वोन पोकहेमर, पूर्वोद्धृत, पृ 231
2. विलियम वोन पोकहेमर, पूर्वोद्धृत, पृ 231; कृ. एसु लाल, *मुस्लिम स्लेव सिस्टम इन मेडिवाल इण्डिया* (नयी दिल्ली, 1994), पृ 20-24
3. कृ. एसु लाल, पूर्वोद्धृत, पृ 19-24
4. देखें, कृ. एसु लाल के विभिन्न ग्रन्थ— *मुस्लिम स्टेट इन इण्डिया* (नयी दिल्ली, 1999), पृ. 62; *अली मुस्लिम इन इण्डिया* (नयी दिल्ली, 1984), पृ 30-33, 92; *ग्रोथ ऑफ़ मुस्लिम पोपुलेशन इन इण्डिया* (नयी दिल्ली, 1973), पृ 212-217
5. *गज़ेटियर ऑफ़ अवध*, 1877, पृ 111-112
6. विस्तार के लिए, सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज*, पृ 32-34

हिंदुओं ने मार भगाया। जो मूर्तियाँ मुस्लिम-हमलावरों ने तोड़ी थीं, वे सब पुनः स्थापित की गईं और हिंदुस्तान की ज़मीन पर मन्दिरों में घंटियाँ बजने लगीं।⁷

वस्तुतः यह भयंकर संघर्ष पूर्व के महमूद गज़नवी के क्रियाकलापों के प्रति हिंदू-प्रतिरोध था, भयंकर पराजय से आक्रमणकारी मुसलमानों में आतंक तथा भय व्याप्त हो गया तथा भविष्य में आक्रमण करने के प्रति उनमें उदासीनता आ गयी। अगले लगभग पौने दो सौ वर्षों (1033-1192 ई.) तक किसी भी मुस्लिम-आक्रमणकारी ने भारत पर आक्रमण की हिम्मत न की। यह आक्रमण भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक सुखद अनुभव था। सही अर्थों में यह एक राष्ट्रीय युद्ध था जब विदेशी आक्रमणकारियों के समूल नष्ट करने का राजा सुहेल देव के नेतृत्व में हिंदू-राजाओं द्वारा सामूहिक सफल प्रयास हुआ।

महमूद गज़नवी तथा सालार मसूद के आक्रामक प्रयासों से धन तथा जन की अपार हानि अवश्य हुई। सांस्कृतिक स्थलों को विनष्ट किया गया। परन्तु इन मुस्लिम-आक्रमणों ने हिंदुओं में इस्लाम के प्रति घृणा का भाव बढ़ाया। वर्तमान कुछ वामपंथी-इतिहासकारों⁸ ने इस संघर्षों के परिणामस्वरूप एक मिश्रित संस्कृति का उद्भव ढूँढ़ने का मनगढ़न्त, तथ्यरहित, थोथा तथा राजनैतिक प्रेरित प्रयास अवश्य किया।

मोहम्मद गोरी के आक्रमण

इसी श्रेणी में भारत पर आक्रमण का तीसरा महती प्रयास मोहम्मद गोरी द्वारा 1175-1206 ई के दौरान हुआ। सन् 1175 ई में उसने मुल्तान को जीता। उच्छ के दुर्ग पर धोखे से विजय प्राप्त की।⁹ गुजरात में अन्हिलवाड़ा के शासक मूलराज ने उसे भयंकर पराजय दी। परन्तु 1180-1186 ई के बीच वह लाहौर का प्रदेश को जीतने में सफल हुआ।

मोहम्मद गोरी का प्रथम भयंकर संघर्ष अजमेर एवं दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान (1179-1192) के साथ हुआ। इस समय पृथ्वीराज की आयु 27 वर्ष की थी तथा भारत की जनता ने उसे ‘राम’ की उपाधि से विभूषित किया था। उसने अपने जीवन में छोटी-बड़ी लगभग 21 लड़ाइयाँ लड़ी थीं।¹⁰ उसे

1. अर्जुनदेव, द स्टोरी ऑफ़ सिविलाइजेशन, भाग दो (नयी दिल्ली, 1989), पृ 380
2. मुल्ला मुहम्मद कासिम *हिंदूशाह फरिश्ता*, पूर्वोद्धृत

‘भारतेश्वर’, ‘राजस्थान-गौरव’, ‘हिंदू-संस्कृति का रक्षक’ आदि नामों से भी पुकारा जाता था।

यहाँ यह लिखना उपयुक्त तथा तर्कसंगत होगा कि तत्कालीन दरबारी तथा चाटुकार-इतिहासकारों— हसन निजामी व मिनहाज-उस-सिराज ने मोहम्मद गोरी का चित्रण अतिरञ्जित भाषा में किया है। इसके साथ ही कुछ वर्तमान इतिहासकारों ने उस पर अपनी मुहर भी लगा दी है। तत्कालीन ग्रन्थ चन्दबरदाई (1149-1200) के ‘*पृथ्वीराजरासो*’ को भाट एवं चारण का काव्य मानकर उसे पूर्णतः उपेक्षित तथा अनदेखा कर दिया है जो अनुचित तथा ऐतिहासिक मानदण्डों के सर्वथा विपरीत है। सामान्यतः सभी मुस्लिम-इतिहासकारों ने मोहम्मद गोरी की एक-दो सफलताओं का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर किया, परन्तु उसकी शर्मनाक तथा अपमानजनक पराजयों की लम्बी-चौड़ी सूची को छोड़ दिया है।

चन्दबरदाई के अनुसार 1191 ई. में तराईन के मैदान के युद्ध से पूर्व वह हांसी में पृथ्वीराज से हारा था। बाद में तराईन के प्रथम युद्ध में गोरी की भारी पराजय हुई थी। गोरी की भागती हुई सेनाओं का चालीस मील तक पीछा किया गया था। सेना में ऐसी भगदड़ पहले कभी न देखी गई थी।¹ ‘*पृथ्वीराजरासो*’ के अनुसार वह बन्दी बना लिया गया था, परन्तु बाद में छोड़ दिया गया था। पर 1192 ई. में तराईन का दूसरा युद्ध भारत के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुआ।² वस्तुतः यह तत्कालीन भारत के ‘महानतम योद्धा’³ एवं अन्तिम हिंदू-शासक की पराजय थी। इस युद्ध से मोहम्मद गोरी की विजय निश्चित हो गयी।⁴ इस संघर्ष

1. ‘हमीर महाकाव्य’ में न्यायचन्द्र सूरि ने पृथ्वीराज के सात संघर्षों, ‘*पृथ्वीराजरासो*’ में चन्दबरदाई ने व मृत्युंजय ने ‘*प्रबन्धचिन्तामणि*’ में 21 आक्रमणों का वर्णन किया है। डॉ. दशरथ शर्मा ने 1186 ई. से लगातार संघर्षों का वर्णन किया है। हसन निजामी ने केवल दो प्रमुख आक्रमणों का वर्णन किया है। देखें, *हरियाणा इन्साइक्लोपीडिया*, इतिहास-खण्ड, भाग-2, पृ. 145
2. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, *ए न्यू हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (इलाहाबाद, 1956), पृ. 140; स्टेनली लेनपूल, पूर्वोद्धृत, पृ. 52
3. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास* (1000-1707 ई.) (आगरा, 1965), पृ. 222
4. *हरियाणा इन्साइक्लोपीडिया*, इतिहास-खण्ड, भाग-2, (नयी दिल्ली, 2011), पृ. 55, 144
5. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास*, पृ. 223

में राजपूतों का एक बार उनमें उत्साह जगानेवाला कोई योद्धा न रहा।⁵ इस पराजय से पहली बार भारतीयों में राष्ट्रीय आत्मविस्मृति व राष्ट्रीय चारित्र्य की कमी का तथा राजपूतों के परस्पर द्वेष के कुपरिणामों का ज्ञान हुआ।

पृथ्वीराज चौहान की इस पराजय के बाद भी मोहम्मद गोरी ने हांसी, सुरसुती, कुहराम और समाना को विजयकर, वहाँ के मन्दिरों को तोड़ा और वहाँ मस्जिदें बनवायीं।⁶ अजमेर में कई विद्रोह हुए तथा हज़ारों हिंदुओं का संहार हुआ। इतिहासकार हसन निजामी ने लिखा, ‘हमें लूट में इतना माल व सम्पत्ति मिली कि समुद्र के रहस्यमय कोषागार और पहाड़ एकाकार हो गये।’⁷ अजमेर में अनेक मन्दिरों को ध्वंसकर मस्जिदें बनवायीं।⁸ यही दिल्ली में हुआ। बनारस में भी एक हज़ार मन्दिरों को ध्वंसकर उनके स्थान पर मस्जिदें बना दीं।⁹

तत्कालीन मुस्लिम-इतिहासकार मोहम्मद गोरी की मृत्यु के बारे में प्रायः मौन हैं। केवल हसन निजामी ने गोरी की मृत्यु पंजाब के खोखरों द्वारा मानी है।¹⁰ *प्रबन्धचिन्तामणि* तथा एक अन्य संस्कृत-ग्रन्थ ‘*विरुदविधिविध्वंस*’ में पृथ्वीराज चौहान के बारे में लिखा कि जब मुसलमान-सैनिक गुप्त रूप से उसके शिविर में घुस गए और उसे सुप्तावस्था में ही पकड़ लिया और मार दिया। परन्तु इसका कोई आधार या तथ्यपरक तर्क नहीं दिया है। ऐसा भी वर्णन किया है कि मोहम्मद गोरी स्वयं पृथ्वीराज को अजमेर ले गया तथा उसे दया करके मुक्त करना चाहता था परन्तु अजमेर के महलों की दीवारों पर गोरी ने मुसलमानों को मारते सुअरों के झुण्ड के चित्र देखकर, गुस्से में आकर उसने पृथ्वीराज चौहान का वध करवा दिया। वस्तुतः यह चित्रण कपोल-कल्पित है। अजमेर के राजमहल की दीवारों पर केवल रामायण तथा महाभारत के ही चित्र थे।

इस सन्दर्भ में राष्ट्रभक्त कवि चन्दबरदाई का ‘*पृथ्वीराजरासो*’ का वर्णन

1. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ़ मैडिवल इण्डिया (फ़्रॉम 647 एडु टू द मुग़ल कानक्वेस्ट)* (इलाहाबाद, 1933), पृ. 150
2. आरु सी मजूमदार, *द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ़ इण्डियन पीपुल* (मुम्बई), पृ. 112
3. हसन निजामी, *ताज-उल-मासिरी* (अनु.), इलियट एण्ड डाउनसन, पूर्वोद्धृत, भाग दो, पृ. 215
4. *वही*, पृ. 222
5. *वही*, पृ. 223
6. *वही*, पृ. 223

ज्यादा तर्कसंगत तथा प्रमाणित लगता है जिसमें मोहम्मद गोरी की मृत्यु, पृथ्वीराज चौहान के हाथों से शब्दभेदी-बाण से काबुल में उसी के आदेश से चलाए गए बाण से हुई। तभी से चन्दबरदाई का यह कथन **‘चार बाँस चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमाण। ता ऊपर सुल्तान है, मत चूके चौहान’** प्रसिद्ध हुआ। अतः चन्दबरदाई के कथन के अनुसार, मोहम्मद गोरी मारा गया था। सोहावा (पाकिस्तान) में आज भी मोहम्मद गोरी की कब्र से कुछ दूरी पर पृथ्वीराज चौहान का भी स्मृति-चिह्न बना हुआ है।

भारत में मुस्लिम-राष्ट्रीयता का स्वरूप (1206-1526)

सन् 1206-1707 ई तक भारत के कुछ भाग पर मुस्लिम-शासन रहा। मुस्लिम-शासकों ने कभी भी इस भूमि को मातृभूमि तथा पुण्यभूमि नहीं माना। वे केवल उसे भोगभूमि मानते रहे। भारत के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा यहाँ के जीवन में उनकी समरसता तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के प्रति उनके चिन्तन तथा व्यवहार को समझने के लिए इस अवधि को दो कालखण्डों— 1206-1526 ई तथा 1526-1707 ई में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग 1206-1526 ई तक है जिसमें 320 वर्ष में 35 शासक हुए। इस काल में विभिन्न राजवंशों का विकास अर्धचन्द्र की भाँति हुआ, जिसमें 1206-1388 ई तक अर्थात् 182 वर्ष यह चन्द्रमा पूर्णिमा तक बढ़ता गया, परन्तु इसके पश्चात् पुनः अमावस्या की रात्रि की ओर यह बढ़ता गया।¹ इस काल में क्रमशः गुलाम, खिलजी, तुग़लक, सैय्यद तथा लोदी— इन पाँच राजवंशों का तीव्रता से उत्थान तथा पतन हुआ। इसी काल में दक्षिण में बहमनी तथा विजयनगर-जैसे अविस्मरणीय और महान् राज्यों की स्थापना हुई। साथ ही मंगोलों तथा तैमूर लंग (1380-1405) के भयंकर तथा वीभत्स आक्रमणों ने दिल्ली-सल्तनत तक को दहला दिया।

सूत्र-रूप से यदि ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार करें तो ज्ञात होगा कि गोरी के बाद भारत के उत्तर के कुछ भाग पर गुलाम वंश (1206-1290 ई) का शासन रहा। इसमें तीन प्रमुख शासक हुए— कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210), शमशुद्दीन इल्तुतमिश (1211-1236) तथा गयासुद्दीन बलबन (1266-1287)। ऐबक का शासन भारत में पहला विदेशी-शासन था जो पूर्णतः अभारतीय था अर्थात् जिसका धर्म अभारतीय तथा जिसने भारतीयों से किसी भी प्रकार समरस

1. एसु आरु शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ 169

होने से मना कर दिया था।¹ उसकी भारतीयों के प्रति नीति कठोर तथा निष्ठुर थी। विद्वानों ने उसकी गणना मध्येशिया के तात्कालिक ‘क्रूर तथा धर्मांध’ जंगली योद्धाओं में की है।² उसने लाखों व्यक्तियों का वध किया।³ कला तथा धर्म के नाम पर उसने हिंदुओं के अनेक मन्दिरों तथा शिक्षण-संस्थाओं को तोड़कर, उसी के चूने-मसाले से दिल्ली में ‘कुतुब-ए-इस्लाम’ तथा अजमेर में ‘ढ़ाई दिन का झोपड़ा’ नामक मस्जिद बनवायी।

दूसरा प्रसिद्ध गुलाम इल्तुतमिश था। डॉ॰ अर्नोल्ड ने उसे ‘ज़बरदस्ती गद्दी हथियानेवाला’ बताया है।⁴ उसने कालिंजर, ग्वालियर, रणथम्भोर के वीर राजपूतों से संघर्ष किया, जिन्होंने गुलामों का शासन स्वीकार न किया। उसने बंगाल जीता तथा 1221 ई में मंगोल-नेता चंगेज़ खान (1206-1227) के आक्रमण को टाला। उसने भारत के सांस्कृतिक मान-बिन्दुओं पर आक्रमण किये। झेलसा के प्राचीन मन्दिर, उज्जैन के विश्वविख्यात महाकाल मन्दिर को ध्वंसित किया।⁵ उज्जैन से सम्राट् विक्रमादित्य की विशाल भव्य मूर्ति को तोड़कर दिल्ली ले आया।⁶ अपनी सलाह के लिए स्थापित परामर्श-समिति ‘मुस्तफा अलैहिस्लाम’ की स्थापना की जिसने भारत में ‘हिंदुओं को अपना सबसे बड़ा दुश्मन’ बताया।

गयासुद्दीन बलबन ने हिंदुओं पर अत्याचार करने में कोई कसर न रखी। साथ ही उसका हिंदू-प्रतिरोध भी होता रहा। दिल्ली के आसपास के मेवाती, दोआब के हिंदुओं तथा कटेहर का अपने क्रूर अत्याचारों तथा दमन का केन्द्र बनाया, क्योंकि उन्होंने उसका शासन चलाना कठिन कर दिया था। मंगोलों के प्रति उसकी उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा-नीति एक विदेशी शासक की दूसरे विदेशी आक्रमण से सुरक्षा-नीति थी। संक्षेप में 1206-1290 ई के लगभग 85 वर्ष के लम्बे काल में गुलाम वंश के शासन की कहानी, भारतीयों पर निरन्तर अत्याचारों,

1. विलियम वोन पोकेहेमर, पूर्वोद्धृत, पृ 233

2. वृ पृ स्मिथ, *द आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, पृ 223

3. *वही*, पृ 223

4. डॉ॰ अर्नोल्ड, *द कैलिफाट्स*

5. डॉ॰ मोहन यादव, *उज्जयिनी का पर्यटन* (उज्जैन, 2012), पृ 29

6. मिंहाज-उस-सिराज, *तबकाते नासिरी* (अनु. सैयद अहमद अब्बास रिजवी) देखें, *आदि तुर्ककालीन भारत* (अलीगढ़), पृ 176

क्रूर हत्याओं तथा लूटमार की कहानी है। शासन में नागरिकता का अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त था जो इस्लाम के सिद्धान्तों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे।¹ यहाँ तक कि धर्मांतरित भारतीय-मुसलमानों को भी समान अधिकार प्राप्त न थे। अतः भारतभूमि पर परकीयों का शासन था² जिन्हें भारतीयों से कोई लगाव न था।

दूसरा राजवंश खिलजी वंश का था जिसका दिल्ली के तख्त पर 1290-1320 ई. अर्थात् कुल 30 वर्ष शासन रहा। इसका प्रथम शासक जलालुद्दीन खिलजी था जो राजनैतिक षड्यन्त्र से शासक बना था। इतिहासकार डॉ. रतिभानु सिंह नाहर के शब्दों में वह 'मुसलमानों के लिए महान्, उदार तथा हिंदुओं के लिए रँगा सियार था।'³ 1291 ई. में उसने रणथम्भोर के राजा हमीर (1282-1301) पर आक्रमण किया पर किला जीतने में असफल रहा। उसके ही काल में मंगोल दिल्ली तक बढ़ आए तथा दिल्ली के उस स्थान पर बस गए जिसे आज भी मुगलपुरा कहा जाता है।

अलाउद्दीन खिलजी इस वंश का कुटिल, क्रूर तथा निरंकुश शासक था जो अपने चाचा जलालुद्दीन की हत्या करके शासक बना था। परन्तु इस काल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में हिंदू-शासकों का ही प्रभुत्व रहा। अलाउद्दीन ने अपनी राजनैतिक महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए उत्तरी तथा दक्षिण भारतीय शासकों पर आक्रमण किये। गुजरात को लूटा, सोमनाथ के मन्दिर का ध्वंस किया, रणथम्भोर के दुर्ग पर आक्रमण किया तथा उसे छल-कपट से जीता। सन् 1303 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का हेतु वहाँ की रानी पद्मिनी को प्राप्त करना था। इस युद्ध में हज़ारों राजपूतों का बलिदान हुआ। रानी पद्मिनी ने अनेक महिलाओं के साथ जौहर किया। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो (1253-1325) के अनुसार एक दिन में 30,000 हिंदू मारे गये। अलाउद्दीन ने धार तथा चन्देरी पर भी आक्रमण किया। सिवाना तथा जालौर पर भी कब्ज़ा किया। इसी भाँति उसने दक्षिण भारत को जीतने तथा वहाँ से अपार धन-प्राप्ति के लिए योजना बनायी। उसने क्रमशः देवगिरि, वारंगल तथा द्वारसमुद्र पर आक्रमण किये। अतुल धन प्राप्त किया, पर सैकड़ों मन्दिरों को ध्वस्त करना न भूला।

1. वूल्जले हेग, पूर्वोद्धृत, देखें भाग-3
2. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास* (1000-1707 ई.), पृ. 106
3. रतिभानुसिंह नाहर, *पूर्व-मध्यकालीन भारत*

परन्तु परिस्थितिवश उसने दक्षिण भारत के प्रदेशों को दिल्ली राज्य में नहीं मिलाया। धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में वह अपनी धर्माधता तथा रुढ़िवादिता में किसी से पीछे न था। वह स्वयं विश्व में एक नये धर्म की स्थापना तथा दूसरा विश्वविजेता बनना चाहता था।¹ परन्तु उसे दोनों इरादे छोड़ने पड़े। हिंदुओं के प्रति उसकी नीति असहिष्णुता की थी।² अलाउद्दीन की क्रूरता तथा अत्याचारों की पराकाष्ठा के पश्चात् भी उत्तर तथा दक्षिण भारत के हिंदू-शासक उसका कटु विरोध करते रहे। भारत का अधिकतर भाग खिलजी-शासन से मुक्त रहा।

खिलजी-वंश के काल की सबसे बड़ी घटना अलाउद्दीन के कमज़ोर उत्तराधिकारियों के काल में हुई और यह थी 1320 ई. में कुछ महीनों के लिए पुनः दिल्ली के तख्त पर हिंदू-शासन की स्थापना। इसे प्रायः सभी मुस्लिम इतिहासकारों तथा चाटुकार लेखकों ने छिपाया है। सन् 1299 ई. में अलाउद्दीन ने गुजरात के वघेल-शासक कर्णदेव द्वितीय (1297-1304) पर आक्रमण करके उनकी पुत्री देवल रानी को प्राप्त किया था। उसने ज़बरदस्ती अपने पुत्र खिज़्र खाँ (1320 ई.) से उसका विवाहकर इस्लाम-धर्म अपनाने को विवश किया था, परन्तु वह हिंदुत्व के इस अपमान को भूली न थी। इसी भाँति गुजरात के एक हिंदू को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया था तथा उसे खुशरो खाँ का नाम दिया गया था। 1320 ई. में दिल्ली में एक महान् राज्य-क्रान्ति हुई जिसमें खुसरो खाँ तथा देवल रानी ने पहले दिल्ली के महल तथा अन्त में अपने हितैषियों की सहायता से दिल्ली-तख्त पर अधिकार किया। पुनः हिंदू-साम्राज्य की स्थापना हुई। यह पृथ्वीराज चौहान के शासन के अन्त के पश्चात् पहला अवसर था। पुनः हिंदू-मन्दिरों में पूजा-अर्चना होने लगी। राजमहल में हिंदू-पद्धति से धार्मिक कार्य होने लगे। इससे भारत में राष्ट्रीय स्वाभिमान जागा। इसी भाँति दक्षिण भारत में कालान्तर में विजयनगर राज्य का निर्माण हुआ। परन्तु दिल्ली के तख्त पर कुछ महीनों तक ही हिंदू-शासन रहा।³

दिल्ली-सल्तनत का तीसरा महत्वपूर्ण राजवंश तुग़लक़-वंश था। इस वंश

1. ज़ियाउद्दीन बरनी, *तारीख-ए-फ़िरोज़शाही* (अनु. सैयद अहमद अब्बास रिजवी), देखें *खिलजीकालीन भारत* (अलीगढ़), पृ. 54
2. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ़ मैडिवाल इण्डिया*, पृ. 269-270
3. विस्तार के लिए देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, 'देवल रानी और खुशरो खाँ', *पाञ्चजन्य*, 28 जून, 2009

के प्रमुख शासक मुहम्मद बिन तुगलक तथा फ़िरोज़शाह तुगलक हुए। मुहम्मद अपने पिता की हत्या करके शासक बना था। वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी तथा रक्तपिपासु था। उसकी योजनाएँ बड़ी विचित्र तथा काल्पनिक थीं। दोआब में अत्यधिक कर-वृद्धि, राजधानी-परिवर्तन, तांबे के सिक्के चलाना, खुरासन तथा कराजल पर आक्रमण-योजना— यह सभी उसके मन की अव्यावहारिक योजनाएँ थीं जिन्हें कुछ इतिहासकारों ने अपने कुतर्कों द्वारा उसकी बुद्धि की उर्वरता का द्योतक माना है। इन सभी बेतुकी, अविवेकी तथा कुत्सित योजनाओं का कष्ट भारत की अपार हिंदू-जनसंख्या को सहना पड़ा। किसी भी योजना का उद्देश्य राष्ट्रहित या जनकल्याण न था। इन काल्पनिक योजनाओं ने चारों ओर अराजकता तथा भय की स्थिति पैदा कर दी। सभी योजनाएँ असफल तथा विनाशकारी सिद्ध हुईं।

फ़िरोज़शाह तुगलक भी कम धर्मांध न था। यद्यपि वह एक हिंदू-माता से जन्मा था। सन् 1360 ई. में उसने प्रसिद्ध जगन्नाथपुरी मन्दिर को लूटा। पवित्र मूर्तियों को समुद्र में फेंक दिया। नगरकोट पर आक्रमण किया। वह भारतीय-इतिहास में पहला शासक था जिसके काल में उलेमाओं का प्रभाव स्थापित किया गया। इस काल में बड़ी संख्या में हिंदुओं का धर्मांतरण किया तथा इस्लाम-धर्म मानने को बाध्य किया। *फतूहात-ए-फ़िरोज़शाही* से हिंदुओं के प्रति सुल्तान की कठोर तथा दमनकारी नीति की जानकारी मिलती है।¹

इसी भाँति सैय्यद (1414-1451 ई.) तथा लोदी-वंश (1451-1526 ई.) क्रमशः चौथे और पाँचवें वंश रहे। लोदी-शासक यद्यपि मूलतः अफ़ग़ान थे तथापि उनकी शासन-व्यवस्था तुर्कों से भिन्न थी जो अपेक्षाकृत प्रजातन्त्रवादी तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित थी। परन्तु हिंदुओं के प्रति व्यवहार में कोई अन्तर न था। दूसरा लोदी-शासक सिकन्दरशाह (1498-1517) यद्यपि एक हिंदू-माता से उत्पन्न हुआ था, तथापि वह हिंदुओं के प्रति अत्यधिक कठोर था। उसके धार्मिक अत्याचारों के अनेक प्रसंग कुरुक्षेत्र, मथुरा, आगरा, चन्देरी आदि अनेक धार्मिक स्थलों से जुड़े हैं।

दक्षिण में विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना

1. सुल्तान फ़िरोज़शाह, *फतूहात-ए-फ़िरोज़शाही* (अनु. रिजवी), देखें, *तुगलककालीन भारत*, भाग-2, (अलीगढ़), पृ. 326-327

दिल्ली-सल्तनत के अधिकतर मुस्लिम-शासक उत्तरी भारत में उनके प्रबल प्रतिरोध के कारण दक्षिण भारत की ओर ध्यान ही न दे सके। इस ओर दिल्ली में गुलाम वंश की स्थापना के लगभग 190 वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी दक्षिण भारत की अपार धन-सम्पदा से प्रभावित हुआ। उसने अपार धनराशि लूटी तथा अनेक मन्दिरों का ध्वंस किया। पर दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता बनी रही। मुहम्मद बिन तुगलक के काल में दक्षिण भारत अनेक विद्रोहों का केन्द्र बन गया। इस काल में दक्षिण में विजयनगर-साम्राज्य का निर्माण भारत के परम्परागत राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय जागरण का एक अविस्मरणीय युग था।¹ देश-विदेश के सभी इतिहासकारों तथा विद्वानों ने बिना किसी अपवाद के, इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहासकार कृ. ए. नीलकण्ठ शास्त्री (1892-1975) ने इसे स्वतन्त्र हिंदू दक्षिण भारत का अन्तिम स्वर्णिम अध्याय माना है। विदेशी यात्री अब्दुर्रज्जाक (1413-1482) ने लिखा, 'ऐसा राज्य विश्व में न कभी आँखों से देखा और न कभी कानों से सुना। इसके जैसा राज्य समस्त पृथ्वी पर नहीं है।'² इस महान् साम्राज्य के निर्माण में सर्वाधिक प्रेरक तथा योगदान स्वामी विद्यारण्य (1268-1386) का है जो पम्पानगरी (वर्तमान हम्पी) के रहनेवाले थे। उन्होंने शिक्षा ग्रहण करते समय ही सम्पूर्ण दक्षिण में नवयुवकों में अदम्य उत्साह, राष्ट्रप्रेम, आत्मविश्वास तथा निर्भयता का भाव जगाया तथा धर्म के आधार पर एक सृष्टि साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न लिया था। इन्हीं के आशीर्वाद से 1336 ई. में हरिहर तथा बुक्कराय नामक दो भाइयों ने विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना की थी। तत्कालीन विदेशी यात्रियों— निकोलो डी'कोंटी (1395-1469), दुआर्ते बारबोसा (1480-1521), डोमिंगो पेज़ (16वीं शती), तथा फेर्नाओ न्यूनिज़ (16वीं शती)— सभी ने इस साम्राज्य की बड़ी प्रशंसा की है। महाराजा कृष्णदेवराय इस साम्राज्य का महानतम शासक हुए। पेज़ ने उसे एक महान्

1. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *अविस्मरणीय विजयनगर साम्राज्य एवं महाराजा कृष्णदेवराय* (नयी दिल्ली, 2007); रॉबर्ट सेवल, *ए फोरगोटन एम्पायर, विजयनगर, ए कन्ट्रीव्यूशन टू द हिस्ट्री* (पृ. सं. 1900, चौथा सं. नयी दिल्ली, 1987); डॉ. वी. सी. रे, *द मिस्ट्री ऑफ़ विजयनगर* (मद्रास, 1905); ए. एच. लोग, *हम्पी रुइन्स* (मद्रास, 1917); सेलेटोर, *सोशल एण्ड पालिटिकल लाईफ इन द विजयनगर एम्पायर*, दो खण्ड
2. अब्दुर्रज्जाक, *मतला-उस-सांदीन* (अनु.) इलियट एण्ड डाउसन, पूर्वोद्धृत, भाग-4, पृ. 105-120

शासक तथा न्यायप्रिय राजा माना है। बाबर (1526-1530) ने भी अपने ग्रन्थ *बाबरनामा* में अपने काल में यह स्वीकार किया कि 'काफ़िरों के राज्य-विस्तार एवं सेना की अधिकता की दृष्टि से विजयनगर राज्य है।' वस्तुतः इस शासनकाल में भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को प्रत्येक क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया। चहुँओर विकास हुआ।

विजयनगर-साम्राज्य के आज के अवशेषों को देखकर वी. एस. नायपॉल ने लिखा, 'हम हिंदुओं को जीवन में कम-से-कम हम्पी (विजयनगर) जाना ज़रूरी है, जिससे वे स्वयं देखें कि उनकी महान् सभ्यता को किसने और कैसे रौंदा।' महाराजा कृष्णदेवराय का शासनकाल 1509-1530 ई. रहा। इसमें भारत के राष्ट्रीय जीवन में अनुकूल चहुँमुखी विकास हुआ। उन्हें 'राजाओं का राजा, भारत के स्वामियों का स्वामी, तीन समुद्रों तथा भूमि का स्वामी' कहा गया है। उनकी विजयशालिनी सेनाओं ने सम्पूर्ण दक्षिण पर प्रभुत्व स्थापित किया। व्यापार वाणिज्य का अद्भुत विकास हुआ। यहाँ के राजपथों पर सभी राष्ट्रों एवं सभी धर्मों के असंख्य नागरिक पूर्ण स्वतन्त्रता और परम आनन्द के साथ इधर-उधर आते-जाते थे। हिंदू-धर्म तथा संस्कृति आधारित राज्य था। ग्रामीण-समुदायों तथा ग्राम-पंचायतों का विशेष स्थान था, जिसमें सभी जातियों को बिना भेदभाव के स्थान प्राप्त था। सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता थी। महाराज कृष्णदेवराय ने स्वयं वैष्णव होते हुए भी सभी धर्मों की प्रगति को प्रोत्साहित किया। महिलाओं का सम्मान था। विभिन्न त्योहारों तथा पर्वों को प्रोत्साहन दिया जाता था। राजदरबार में 'अष्ट-दिग्गज' अर्थात् आठ श्रेष्ठ विद्वान् थे। अनेक मन्दिरों तथा भवनों का निर्माण हुआ। मुख्यतः यह राज्य 1565 ई. तक तालीकोट के संघर्ष तक तेजी से फला-फूला। परन्तु वह किसी-न-किसी रूप में वर्तमान काल तक चलता रहा।

वामपंथी-इतिहासकारों का वैशिष्ट्य है कि उन्होंने यहाँ भी वर्गभेद के सिद्धान्त को गढ़ डाला। उनके अनुसार विजयनगर-राज्य की रचना पिरामिड की भाँति थी जिसमें राजा नगर की सबसे ऊँची भूमि पर महलों में रहता था तथा नीचे

1. वी. एस. नायपॉल, 'इण्डिया : ए मिलियन म्युटिनीज़ नाउ'
2. अनिरुद्ध राय, 'द राईज़ एण्ड फॉल ऑफ़ विजयनगर : ए अल्टरनेटिव हाइपोथेसेज टू हिंदू नेशनलिस्ट्स थीसीस', *इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस प्रोसीडिंग्स*, 64वाँ अधिवेशन, मैसूर, 2003 (प्रकाशित पटना, 2004 में), पृ. 428-429

की ओर सामान्य लोग आर्थिक आधार पर रहते थे।

संक्षेप में दिल्ली सल्तनत का काल (1206-1526 ई.) भारत के इतिहास में 'लड़ाई-मारकाट' अथवा सैनिक राज्य था। अर्सकाइन के अनुसार, 'व्यक्ति का शासन था, न कि क़ानून का।' वह उत्तरी भारत में निरन्तर मुस्लिम-शासकों के जिहाद या धार्मिक युद्धों का वर्णन करता है। शासन का स्वरूप मुस्लिम-धर्मानुकूल तथा पूर्णतः साम्प्रदायिक था। यह एक मज़हबी राज्य था।¹ बादशाह सीज़र भी था तथा पोप भी, परन्तु धार्मिक बातों पर उसका अधिकार कुरआन शरीफ़ के नियमों तक सीमित था।² सर ज़दुनाथ सरकार (1870-1958) का निष्कर्ष है कि मुस्लिम-राज्य का कार्य था, 'इस काफ़िरों के देश (दार-उल्-हरब) पर तब तक जिहाद करना है, जब तक वे इस्लामी-राज्य (दार-उल्-इस्लाम) न बन जाएँ और उसपर विवाद करनेवाले, इस्लाम स्वीकार न कर लें।' ³

वर्तमान मुस्लिम-इतिहासकारों, जैसे— मोहम्मद इरफ़ान हबीब (जन्म : 1931), इश्तियाक़ हुसैन कुरैशी (1903-1981) ने भारत में मुस्लिम-राज्य के समर्थन में अपने कुतर्कों द्वारा मुस्लिम-शासन को न्यायोचित बतलाया तथा उसका समर्थन किया। प्रो. ताराचन्द ने भी कुछ इने-गिने उदाहरण गिनाकर लीपापोती करने का प्रयास किया। निःसन्देह इस लम्बे काल में जनसमाज की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक तथा खराब रही। दिल्ली-सल्तनत के काल में मुहम्मद बिन क़ासिम के काल से ही हिंदुओं पर जज़िया चलता रहा। हिंदुओं का बड़ी मात्रा में जनसंहार तथा अमानुषिक रूप से दमन होता रहा। भारतीय-संस्कृति के मान-बिन्दुओं पर चारों ओर से प्रहार हुए। यह काल भारत में इस्लामीकरण तथा गुलामीकरण का था, परन्तु यह भी सत्य है कि इसके पश्चात् भी भारत में हिंदुओं द्वारा सतत विजय तथा संघर्ष होते रहे। भारत विश्व के अन्य देशों की भाँति दार-उल्-हरब से दार-उल्-इस्लाम का देश न बन सका। राष्ट्रीय जीवन की मूल

1. एलु. अर्सकाइन, *हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया अण्डर द हाउस ऑफ़ तैमूर, बाबर एण्ड हुमायूँ*, भाग-1 (लन्दन, 1854), पृ. 406
2. आर्. पी. त्रिपाठी, *सम् एसपैक्ट्स ऑफ़ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया* (इलाहाबाद, 1936): डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *मध्यकालीन भारतीय-संस्कृति*, पृ. 1
3. डॉ. ईश्वरी प्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ़ मैडीवल इण्डिया*, पृ. 576
4. डॉ. यदुनाथ सरकार, *औरंगज़ेब*, भाग-3, पृ. 249

भावना नष्ट न हो सकी, यद्यपि हिंदुओं की आस्थाओं, मान्यताओं अथवा मान-बिन्दुओं को नष्ट करने में कोई कसर न छोड़ी गयी।

मुग़ल-शासक तथा राष्ट्रीय भाव

कुछ मुस्लिम तथा वामपंथी-इतिहासकारों ने भारत में मुग़ल-शासकों के काल को भारत का 'शानदार युग' कहा है।¹ यह काल प्रमुखतः 1526-1707 ई. तक रहा। यद्यपि इसके बाद 16 अन्य निर्बल उत्तराधिकारी किसी-न-किसी रूप में 1857 ई. तक घसीटते रहे। इसी काल के दौरान 18वीं शताब्दी में विदेशी नादिरशाह (1738-'39) तथा अहमदशाह अब्दाली (1748-'67) ने भारत में भीषण आक्रमण किए तथा मुग़ल-शासकों के काल में लाखों व्यक्तियों का संहार तथा भयंकर लूटमार की।

बाबर की धर्माधता तथा बहशीपन

सन् 1526-1707 ई. के काल में कुल 7 मुग़ल-शासक हुए,² परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से किसी भी शासक ने इस राष्ट्र को न मातृभूमि ही माना और न ही यहाँ के जनजीवन से एकरस होने का क्षणिक भी प्रयत्न किया। इसे भली प्रकार समझने के लिए इन मुग़ल-बादशाहों के चरित्र तथा जीवन को समझना आवश्यक होगा।

राजनैतिक दृष्टि से यदि अवलोकन तथा विश्लेषण करें तो भारत में पहला मुग़ल शासक बाबर था, जो एक लुटेरा तथा धर्माध था। वह मध्येशिया के समरकन्द राज्य की एक बहुत छोटी-सी जागीर फरगना का शासक था। उसका पिता उमर शेख मिर्जा द्वितीय (1469-1492) तथा उसकी माता कुतलुग निगार खानुम (मृत्यु : 1505) मंगोल की वंशज थी। पिता से विरासत में उसे शराब की लत तथा अपने को तैमूर-वंश का कहलाने का हक़ मिला था। उसने कभी भी अपने को मुग़ल या मंगोल नहीं माना, बल्कि मुग़ल कहने से वह चिढ़ता था। उसने अपने गुरु शेख मज़ीद बेग को 'लम्पट तथा अत्यधिक गुलाम रखनेवाला'³ बतलाया। दूसरा शिक्षक कुलीबेग था, जिसके बारे में बाबर ने लिखा कि वह, 'न

नमाज़ पढ़ता, न रोज़ा रखता, बड़ा कठोर, आततायी व पूरा काफ़िर था।'¹ तीसरा शिक्षक पीर अली दोस्तगाई और वैसलागरी थे जो 'बेहद हँसोड़, ठिठोलिया और बदकारी में बेबाक था।'² बाबर अपने गुरुओं के धार्मिक स्वभाव से बड़ा नाखुश था। परन्तु उसने भी उनके कई अवगुणों को अपना लिया था। इसका एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। जब बाबर केवल 16-17 वर्ष की आयु का था, तब उसे बाबुरी नामक एक तरुण से प्रेमोन्माद हो गया था तब इस उन्माद में उसने आशिकी और माशूकी पर कई शेर लिखे थे। परन्तु जब बाबर ने उस तरुण को आगरा की गली में देखा तो बाबर ने स्वयं लिखा कि, 'वह लड़का मिल गया जो हमारी सोहबत में रह चुका था। हम उससे आँखें नहीं मिला पाए, योंकि हम अब बादशाह हो चुके थे।'³ अतः बाबर के भारत आने से पूर्व के ऐयाशी जीवन का सरलता से मूल्यांकन किया जा सकता है।

निकम्मे कबूतरबाज़ बाबर के पिता उमर शेख मिर्जा ने अपनी फरगना जागीर को बढ़ाने का प्रयत्न किया पर पूर्णतः असफल रहा। पुत्र बाबर ने तीन बार समरकन्द को जीतने की असफल कोशिश की, बल्कि वह फरगना जागीर से भी हाथ धो बैठा। अतः कुछ काल बाद वह दीन-हीन अवस्था में, अपनी माता के साथ, केवल दो टेंटों के साथ खुरासन की ओर भागा। उसने शीघ्र ही छल-कपट से 1504 ई. में काबुल पर अधिकार कर लिया और तभी से उसे अपना स्थायी निवास बनाया।

बाबर ने अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' (तुज्क-ए-बाबरी) में अपने जीवन के कुल 48 वर्षों 10 महीनों में से बीच-बीच स्थान छोड़कर कुल 18 वर्षों का वर्णन किया है। बाबर का भारत पर आक्रमण, भारत की राजनीतिक कमज़ोरी नहीं बल्कि बाबर की दयनीय दशा थी। वह भारत की अपार धन-सम्पत्ति की इच्छा तथा भारत को दार-उल्-हरब से दार-उल्-इस्लाम करने की इच्छा से इस ओर प्रवृत्त हुआ। उसने महमूद गज़नवी तथा मोहम्मद गोरी को अपना पूर्वज बतलाया तथा भारत को तैमूरिया-वंश का क्षेत्र बतलाया। बाबर ने 1519-1526 ई. तक भारत पर पाँच आक्रमण किये। सभी आक्रमण उसकी धर्माधता तथा इस्लामी जिहादी जुनून से ओत-प्रोत थे। पहला आक्रमण बाजौर

1. बिपिन चन्द्र, *मॉडर्न इण्डिया* (नयी दिल्ली, संस्करण 2005), पृ. 1

2. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक और भारतीय-जनसमाज*, पृ. 87-120

3. बाबर, *बाबरनामा* या *तुज्क-ए-बाबरी* (अनु. रिज़वी) (अलीगढ़)

1. बाबर, *बाबरनामा* या *तुज्क-ए-बाबरी* (अनु. रिज़वी) (अलीगढ़)

2. वही

3. वही

के सीधे-सादे वनवासियों पर किया। इसमें 3,000 से अधिक व्यक्ति मारे गये। यह आक्रमण इसलिए किया गया क्योंकि बाजौर के लोग विद्रोही तथा मुसलमानों के शत्रु थे तथा उनमें काफ़िरों की प्रथाएँ प्रचलित थीं।¹ उसने एक पुश्ते पर आदमियों के सिरों का एक स्तम्भ बनाया। कुछ सिर बदख़्शां, क्रून्दज व बल्लू भेजे। यही अत्याचार उसने भेरा पर आक्रमण करके भी किये। परन्तु यहाँ उसने सिक्कू के पुत्र दीव को व एक अन्य को भारी धन वसूल करके छोड़ दिया। गुरु नानकदेव (1469-1539) ने बाबर के तीसरे, चौथे व पाँचवें आक्रमण का आँखों-देखा वर्णन किया है। उनके ये वर्णन सैयदपुर, लाहौर तथा पानीपत की बाद की घटनाओं से जुड़े हैं। उन्होंने हिंदुओं की हालत के बारे में लिखा, **‘हिंदू कहुँ तो मारा जाऊँ, मुसलमान में नाहिं।’** उन्होंने बाबर की कटु आलोचना करते हुए लिखा—

‘कलि काती राजे कासाई धरमु पंख करि उडरिआ ॥

कूड्ड अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चड़िआ ॥’²

जब बाबर ने स्यालकोट जीत लिया तथा आगे बढ़ा। गुरु नानक ने विजित क्षेत्रों में उसके अत्याचारों का वर्णन करते हुए जनसंहार, लूटमार, महिलाओं की सरेआम बेइज्जती का वर्णन किया है, उन्होंने लिखा—

‘खुरासान खसमाना कीआ हिंदुसतानु डराइआ ॥

आपै दोसु न देई करता जमु करि मुगलु चड़ाइआ ॥³

ऐती मार पई करलाणे तैं की दरदु न आइया ॥

करता तूं सभना का सोई ॥⁴

जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई ॥ रहाऊ ॥

सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई ॥⁵

रतन विगाड़ि विगोई कुर्ती मुड़िया सार न काई ॥

आपे जोड़ि विछोड़े आये वेखु तेरी वडिआई ॥⁶

1. बाबर, *बाबरनामा* या *तुज्क-ए-बाबरी* (अनु. रिज़वी) (अलीगढ़)

2. *श्रीगुरुग्रन्थ साहिब जी*, 145.10.1

3. *वही*, 360.12.1

4. *वही*, 360.13.1

5. *वही*, 360.14.1

6. *वही*, 360.15.1

अनुवाद के रूप में इसे इस भाँति समझा जा सकता है— ‘हे विधाता, तूने खुरासान को तो संरक्षित कर लिया था, परन्तु हिंदुस्थान को आतंकित कर डाला। तू इस काण्ड का कर्ता है, पर स्वयं को दोष नहीं देता। तूने मुग़ल बाबर को साक्षात् यमराज बनाकर इस देश पर चढ़ा दिया। उस यमराज बने बाबर ने हिंदुस्थानियों को इतनी निर्दयता से मारा कि वे त्राहि-त्राहि कर उठे, इतना होने पर भी क्या तुझे तनिक-सा दर्द भी न हुआ? तू तो सबका एक ही कर्ता है न। यदि एक सशक्त किसी अन्य शक्तिशाली को मार दे तो मन में रोष नहीं होता, परन्तु जब बलवान् शेर, गायों के बाड़े पर आ धमके तो लोग स्वामी से ही पूछते हैं कि संकट-वेला तू कहाँ चला गया था? हाय, रत्नों (भारतीयों) को विजाड पर इनकी दुर्दशा कर दी इन कुत्तों ने। इतने लोग मार दिए गए कि इनका सार नहीं। हे विधाता! तू स्वयं जोड़ता है और तू स्वयं ही बिछोड़ता है। अब तू स्वयं देखेगा कि तेरी वडीआई क्या करती-फिरती है।’

बाबर ने भारत के मुख्य क्षेत्र में कुल चार युद्ध किये— दो हिंदू-शासकों से तथा दो मुस्लिम-शासकों से। क्रमशः उसके दो युद्ध धार्मिक थे तथा दो राज्य-विस्तार के लिये। दो हिंदू-शासकों में उसका टकराव मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह प्रथम (महाराणा सांगा : 1509-1528) तथा चन्देरी के दुर्ग के किलेदार से था। स्वयं बाबर ने मेवाड़ के राणा सांगा से युद्ध का वर्णन किया है। इसने इसे ‘धर्मयुद्ध’ बतलाया¹ तथा इसके लिये शराब छोड़ने का ढोंग रचा। स्थानीय मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिए उनसे तमगा कर हटा दिया। स्वयं बाबर ने *बाबरनामा* में राणा सांगा को उत्तर भारत का शक्तिशाली शासक माना है।² राणा सांगा पहले इब्राहिम लोदी (1517-1526) को हरा चुके थे तथा वह भारत के इतिहास में प्रथम शासक थे जिन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों को पराभूत करने के लिये विशाल स्तर पर सामूहिक प्रयत्न तथा नेतृत्व किया था। सम्भवतः यदि उनके उत्तराधिकारी योग्य होते, तो मुग़ल-वंश का नाम ही भारत के इतिहास में न होता। वह चित्तौड़-नरेश कालभोज (बप्पा रावल : 734-753) तथा महाराजा कुम्भा (कुम्भकर्ण : 1420-1433) की परम्परा से थे। इतिहासकार कोलोनेल जेम्स टॉड (1782-1835) ने उसके शासन को समृद्धि की चरम सीमा

1. *श्रीगुरुग्रन्थ साहिब जी*, 360.15.1

2. बाबर, *बाबरनामा* या *तुज्क-ए-बाबरी* (अनु. रिज़वी) (अलीगढ़)

3. *वही*

तक पहुँचानेवाला बताया है।¹ महाराणा सांगा ने 16वीं शताब्दी में भारत में एक ऐसा राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जो भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं पर आधारित हो। प्रो. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव² के अनुसार राणा सांगा की पराजय के पश्चात् भी बाबर की हिम्मत राजस्थान पर आक्रमण करने या बहादुर राजपूतों को नाराज़ करने की न हुई।

वास्तव में राणा सांगा की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मालवा, गुजरात तथा दिल्ली के सुल्तानों में से कोई अकेला उन्हें पराजित न कर सकता था। उन्होंने अपने जीवन में अनेक युद्धों में भाग लिया तथा प्रायः सभी में सफलता प्राप्त की। संक्षेप में उनका राज्य उत्तर में प्याना के निकट पीला खाल तक, पूर्व में सिंधु नदी, दक्षिण में मालवा तथा पश्चिम में लम्बी-चौड़ी पहाड़ियों तक फैला था। कर्नल टॉड के अनुसार³ राणा सांगा के पास 80,000 घोड़े तथा 500 युद्ध योग्य हाथी थे। साथ में 7 राजा, 9 राव तथा 104 मुख्य सरदार थे, जिन्हें 'रावल' या 'रावत' की उपाधियाँ प्राप्त थीं। साथ में मारवाड़ तथा अम्बेर उनकी प्रभुसत्ता को मानते थे। इसके अलावा ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसीन, कालपी, चन्देरी, बूँदी, गांगरीन, रामपुरा तथा आबू के राव थे।

बाबर के लिए इस समय एक विचित्र स्थिति थी। इतिहासकार स्टेनले लेन-पूल (1854-1931) के अनुसार⁴ बाबर के लिए एक ऊँचे स्तर के व्यक्ति से लड़ने का भारत में पहला अवसर था। राणा सांगा ने खनुवा के निकट एक पहाड़ी पर अपने खेमे गाड़ दिए थे। बाबर ने बड़े नाटकीय ढंग से मदिरा त्यागने का ढोंग किया। कुरआन पर हाथ रखकर अपने सैनिकों से प्रतिज्ञा कराई कि वे युद्ध होने तक पत्नी का त्याग तथा अन्त तक लड़ेंगे। 16 मार्च, 1527 ई. को यह युद्ध हुआ। यह युद्ध दस घण्टे चला। बाबर युद्ध में विजय की ओर से पूर्ण निराश हो चुका था। वस्तुतः यह भारतीय-इतिहास के एक अत्यन्त स्मरणीय युद्धों में से एक था। प्रो. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का निष्कर्ष⁵ है कि शायद ही कोई दूसरा घमासान युद्ध हुआ हो जिसका निर्णय अंत तक लटका रहा हो। बाबर के

तोपखाने ने युद्ध को निर्णायक मोड़ दिया। राणा सांगा बुरी तरह घायल हुए और उन्हें सुरक्षित स्थान पर ले जाया गया। 17 मार्च, 1527 ई. को उनकी मृत्यु हुई। हसन ख़ाँ मेवाती भी इस युद्ध में मारा गया।

बाबर ने इस युद्ध को 'मुहम्मद साहब के धर्म के शत्रु दुष्ट काफ़िरो' से संघर्ष बतलाया। बाबर के विजय-पत्र में इसे बाबर द्वारा 'मूर्तियों की नींव का खण्डन करनेवाला' बताया गया। बाबर यद्यपि कोई पैगंबर, खलीफ़ा या धर्म-सन्त न था, परन्तु इस संघर्ष के बाद उसने 'गाज़ी' की उपाधि धारण की। उसके विजय-पत्र के नीचे यह रूबाई लिखी गयी—²

**‘इस्लाम के लिए मैं वनों में चक्कर लगाता रहा
काफ़िरो तथा हिंदुओं से युद्ध की तैयारी करता रहा
मैंने शहीदों के समान मरने का निश्चय किया
ईश्वर का धन्यवाद है मैं गाज़ी हो गया।’**

महाराज पृथ्वीराज चौहान के पश्चात् यह उत्तर भारत में महानतम संघर्ष था। इसके परिणामस्वरूप बाबर का केन्द्र काबुल के बजाय भारत बन गया। बाबर ने विजयोपरान्त 'काफ़िरो' के कटे सिरों का एक स्तम्भ बनवाया।³

बाबर का हिंदुओं के साथ दूसरा संघर्ष चन्देरी के दुर्ग पर विजय थी जो उसने 1528 ई. में की। इस सफलता पर भी बाबर ने लिखा⁴, कि हमने वहाँ के काफ़िरो का संहार कर दिया, जो स्थान वर्षों से दार-उल्-हरब बना हुआ था। बाबर का वहशीपन यहीं समाप्त न हुआ। भारतीय-संस्कृति के प्रतीक अनेक हिंदू-मन्दिरों को ध्वस्त किया गया। उसके एक अधिकारी ने सम्भल में एक मन्दिर गिराकर मस्जिद का निर्माण कराया। उसके शेख़ जैना ने चन्देरी के अनेक मन्दिरों को नष्ट किया। इतना ही नहीं, उसने भारतीय-सांस्कृतिक जीवन के मान-बिन्दु श्रीरामजन्मभूमि पर भी मीर बाक़ी ताशकन्दी (मीर बाँक़ी) द्वारा उक्त स्थान पर मस्जिद का निर्माण करवाया। इसी भाँति ग्वालियर के निकट उरवा में अनेक जैन-मूर्तियों को नष्ट किया।

1. कोलोनल टॉड, *द एनल्स एण्ड इन्टीक्व्यूटीज़ ऑफ़ राजस्थान* (देखें, भाग-1)
2. प्रो. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास*, पृ. 360
3. कोलोनल टॉड, पूर्वोद्धृत, भाग-1, पृ. 241
4. लेन-पूल, पूर्वोद्धृत
5. प्रो. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास*, पृ. 360

1. *बाबरनामा*, पूर्वोद्धृत
2. वही, पृ. 249
3. वही, पृ. 251
4. वही, पृ. 267

यह उल्लेखनीय है कि कुछ छद्मवेशी सेकुलरवादी इतिहासकारों¹ ने उपर्युक्त तथ्यों के बाद भी बाबर को 'सेकुलरवादी बादशाह' सिद्ध करने में अपनी ऊर्जा को व्यर्थ किया है। उनका मुख्य आधार भूपाल से प्राप्त एक नकली बाबर की अन्तिम इच्छा की प्रति है। इसके बारे में विश्व-प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार मिसेज ए. एस. बैवरिज (1842-1929) ने² इसे पूर्णतः जालसाजीपूर्ण विवरण बतलाया है तथा इसे विरुद्ध 17 तर्क दिए हैं। बानगी के रूप में इसके आधार पर कहा गया कि बाबर हिंदुओं तथा मुसलमानों को समान समझता था। उसने हिंदू-मन्दिरों को नष्ट नहीं किया बल्कि हिंदू-मन्दिरों को दान दिये। बाबर ने अपने दो पुत्रों का विवाह हिंदू-कन्याओं से किया। उसने अपने पुत्र हुमायूँ को उदारता की नीति अपनाने को कहा। कौन मानेगा इन चण्डूखाने की, बेसिर-पैर की गण्णों को ! सम्भवतः इतिहास के प्रति अज्ञानी तथा उससे अपरिचित ही ऐसी जालसाजीपूर्ण वर्णन को सत्य मानेंगे !

इसके साथ यह भी हास्यास्पद है कि कुछ वामपंथी-विद्वानों ने बाबर को एक महान् सांस्कृतिक विरासत का देयता माना है।³ सम्भवतः यह उनकी पुरानी सोवियत साम्राज्य की मित्रता या उनका मीर बाकी के प्रति प्रेम है जो बाबर को ऐसा मानता है; क्योंकि मीर बाकी ताशकन्द का रहनेवाला था जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया का जन्म (1920 ई.) हुआ था। उक्त आभास इसी से होता है कि सन् 1973 ई. में जब इण्डो-सोवियत प्रतिनिधिमण्डल भारत आया तो उन सभी ने बाबर के तमगे लगाए हुए थे तथा जिनका आदान-प्रदान भारतीय-कम्युनिस्टों ने किया। इतना ही नहीं, सन् 1990 ई. में भारत के तत्कालीन सेकुलर-प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रसाद सिंह ने अपनी ताशकन्द-यात्रा में बाबर के मधुर संबंधों को याद किया। यह भी कितना विचित्र है कि एक ब्रिटिश

1. देखें, श्रीमती सुरेन्द्र कौर व तपन सान्याल, *टूवर्ड्स कम्युनल हार्मनी, ए सेकुलर एम्परर बाबर* (सरहिंद, 1987); साथ ही इनके उत्तर में देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, 'श्रीरामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद : कुछ ऐतिहासिक प्रमाण', पञ्चनद शोध-संस्थान (चण्डीगढ़, 2010) भाग XVIII, नं. 1
2. *द बाबरनामा इन इंग्लिश : मेमोयर्स ऑफ बाबर* (2 भाग) (मूल तुर्की से अंग्रेज़ी-अनुवाद), अनुवादिका : मिसेज ए. एस. बैनरेज (लन्दन, 1922)
3. तरुण विजय, 'बाबर की याद भारत के सम्बन्ध को मज़बूत करेगी', *पाञ्चजन्य*, 05 अगस्त, 1990

अधिकारी ने⁴ अपने शोध-ग्रन्थ में बाबर को एक साम्राज्य-निर्माता बतलाया जबकि भारत के उत्तरी भाग में बाबर का राज्य एक छोटी-सी भौगोलिक पट्टी के अलावा कुछ था ही नहीं। संक्षेप में बाबर को भारतभूमि से किञ्चित भी लगाव न था। भारतीयों के लिये वह एक क्रूर लुटेरा था। यहाँ तक कि भारतीय-मुसलमान भी उससे घृणा करते थे।⁵

कामरान तथा राती घाटी का युद्ध

बाबर के पश्चात् हुमायूँ दिल्ली का शासक बना। वह केवल 1530-1539 ई. तथा 1555-1556 ई. के कुछ महीनों तक रहा। वह सभी मुग़ल-शासकों में कमज़ोर, विलासी तथा अफीम का व्यसनी था। उसकी माता माहम बेगम, खुरासान के एक सन्त के वंश की थी तथा शिया मत को मानती थी। हुमायूँ की बोलचाल की भाषा तुर्की थी।⁶ वह अपने पिता का चहेता था परन्तु बाबर उसके व्यवहार से दुःखी रहता था। उदाहरणतः 1527 ई. में जब हुमायूँ ने बदख़्शां जाते हुए दिल्ली के खज़ाने को लूटा था।⁷ अपने जीवनकाल में उसने कुछ गिने-चुने संघर्ष किए, परन्तु उनमें भी उसे सफलता न मिली थी। चौसा तथा कन्नौज की लड़ाइयों में वह अफ़ग़ान शेरशाह से पराजित हुआ था। गुजरात के शासक बहादुरशाह (1526-1535) को भी वह पराजित न कर सका था। यदि वह छोटी-मोटी कोई सफलता भी पाता, तब उस खुशी में वह जश्न, दावतें तथा विलासिता में डूब जाता था।

भारतीय-जनसमाज ने उसे स्वीकार न किया, न ही उसके भाइयों को। हुमायूँ जीवनभर लुढ़कता रहा और उसकी मौत भी सीढ़ियों से लुढ़ककर हुई थी। हुमायूँ का यदि कोई वैशिष्ट्य था भी तो वह परिस्थितियों से पलायन था। उसने जनहित के कार्य के नाम से केवल एक कार्य किया, वह था सन् 1533 में दिल्ली में दीन-ए-पनाह का निर्माण, जिसका अर्थ उसने 'धर्म की रक्षा करनेवाला' बताया। बाबर की तरह भारतीय-जनता उसे एक विदेशी आक्रमणकारी व शासक समझती

1. रशब्रुक विलियम्स, *बाबर : एन एम्पायर बिल्डर इन द सिक्सटीन सेंचुरी* (लन्दन, 1918)
2. सतीश चन्द्र मित्तल, 'भारतीय-मुसलमान बाबर से घृणा करते थे', *पाञ्चजन्य*, 29 अगस्त, 2010
3. ए. एस. के. बनर्जी, *हिमायूँ बादशाह* (ऑक्सफोर्ड, 1935), पृ. 3
4. सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज*, पृ. 95

थी जिसने कभी भी भारतीय-जनता के प्रति कोई सहानुभूति न दिखलायी।

परन्तु यह महत्वपूर्ण है कि भारत के लोग खनुवा में बाबर द्वारा पराजय को न भूले थे। हिमायूँ तो स्वयं भगोड़ा था। परन्तु राजस्थान के हिंदू-युवाओं ने उसका बदला हिमायूँ के छोटे भाई कामरान मिर्जा (1509-1557) से लेने की योजना बनायी। कामरान, बाबर का योग्यतम पुत्र था जो दिल्ली का शासक बनना चाहता था। इस प्रसंग में राती घाटी का युद्ध¹ भारतीय-इतिहास की एक अमर गाथा है। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन चाटुकार मुस्लिम-इतिहासकारों ने इसका उल्लेख नहीं किया। बल्कि इसे जान-बूझकर छिपाया। यह युद्ध 26 अक्टूबर, 1634 ई. को बीकानेर की भूमि पर हुआ। यह युद्ध हिमायूँ के भाई कामरान के साथ हुआ। इसका वर्णन तत्कालीन लेखक बीटू सज्जन ने 1535 ई. में अपनी पुस्तक 'छन्दराय जैतसी' में किया है। बाद में 'वीर विनोद' तथा राजस्थान के इतिहासकारों ने भी इसका वर्णन किया है। इस युद्ध में कामरान की सेना के साथ घमासान युद्ध हुआ। बीकानेर के जैतसी (1526-1542) ने राजस्थान के सभी राजाओं का सहयोग लिया। यह युद्ध भैंसों तथा बैलों के सींगों पर मशालें बाँधकर बीकानेर के निकट बीहड़ जंगलों में लड़ा गया। कामरान की सेना को घेरकर अचानक रात्रि में आक्रमण किया गया। इस युद्ध में कामरान की सेना की बड़ी क्षति हुई। कामरान भाग गया, परन्तु उसका शिरस्त्राण वहीं गिर पड़ा। संक्षेप में इस ढंग से भारतीयों ने मुगलों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। कामरान ने भी दिल्ली के सिंहासन पर बैठने का विचार सर्वदा के लिये छोड़ दिया।

हेमू की राष्ट्रभक्ति और सम्राट् अकबर

मुग़ल-वंश का तीसरा शासक अकबर था जिसने 1556-1605 ई. तक अर्थात् लगभग पचास वर्ष राज्य किया। वह भी पहले दो शासकों की भाँति विदेशी था। उसकी रगों में भारतीय-रक्त की एक बूँद भी न थी।² वह अफीम मिली शराब का

व्यसनी था। वह उसके नशे में धुत्त हो जाता था।³ उसमें महिला-विषयक सभी लतें थीं। अबुल फजल (1551-1602) के अनुसार उसके हरम में लगभग 3,000 महिलाएँ थीं।⁴

सम्राट् अकबर का जीवन-दर्शन तथा दैनिक क्रियाकलाप एक विदेशी-साम्राज्यवादी तथा कट्टर मुसलमान के समान थे। उसने प्रारम्भ से ही भारत में अपना राजनीतिक एवं मज़हबी प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। अकबर के राज्य-विस्तार की भावना तैमूरिया वंश-परम्परा के अनुकूल थी जो नृशंसता, क्रूरता तथा दमन से पूर्ण थी। उसे छल-कपट से दूसरे राज्य को जीत लेने में ज़रा भी हिचक न होती थी। विशेषकर उसके हेमू, महारानी दुर्गावती तथा महाराणा प्रताप से संघर्ष, सम्राट् अकबर के राष्ट्रीय चरित्र की क्षुद्रता को दर्शाते हैं।

सम्राट् अकबर का पहला प्रमुख टकराव हेमू (हेमचन्द्र विक्रमादित्य : 1501-1556) से हुआ था जो एक साधारण नागरिक से उठकर अपनी योग्यता के आधार पर ऊँचे पद पर पहुँचा था। आदिलशाह के काल में वह एक विशाल सेना का सेनापति बन गया था। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार उसने अपने जीवन में 24 लड़ाइयाँ लड़ी थीं जिसमें 22 युद्धों में सफलता प्राप्त की थी।⁵ अक्टूबर, 1556 ई. में वह दिल्ली का सम्राट् घोषित किया गया था। उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। वह दिल्ली के पठानों तथा मुग़लों के काल में पहला हिंदू-शासक था जो दिल्ली के तख्त पर अधिकारकर शासक बना था, यद्यपि देवल रानी तथा खुसरो खाँ भी शासक रहे थे।

जिस समय 27 जनवरी, 1556 ई. को शाही पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिरकर हिमायूँ की मृत्यु हो गई थी, उस समय अकबर पंजाब के गुरुदासपुर ज़िले के कलानौर नामक स्थान पर था। उसके संरक्षक बैरम खाँ (मृत्यु : 1561) ने अकबर को मुग़ल-सम्राट् घोषित कर दिया। हुमायूँ की मृत्यु के बाद ही हेमू ने

1. सतीश चन्द्र मित्तल, हिंदुओं का राजनीतिक प्रतिरोध, *पाञ्चजन्य*, 19 अगस्त, 2007, पृ 30; डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा, *ग्लिमप्सेज़ ऑफ़ भारतीय हिस्ट्री* (नयी दिल्ली, 2003), पृ 297-298; विस्तार के लिए बीटू सज्जन, *छन्दराय जैतसी*; श्यामदास, *वीर विनोद* (दिल्ली, 1986)
2. वी. ए. स्मिथ, *अकबर : द ग्रेट मुग़ल*, पृ 1

1. विवियन, *अकबर*, पृ 16; अकबर के दरबार में ईसाई-पादरी अस्वा बीबा ने लिखा है कि अकबर इतनी शराब पीता था कि वह मेहमान से बातें करते-करते सो जाता था।
2. देखें अबुल फजल, *अकबरनामा*; डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने हरम की संख्या 5,000 बतलाई है, देखें, *भारत का इतिहास*, पृ 603; विस्तार के लिए देखें, कृ. एस्. लाल, *द मुग़ल हरम*
3. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास*, पृ 482

दिल्ली और आगरा पर अधिकारकर, सम्पूर्ण ख़जाने को अपने अधिकार में कर दिल्ली की ओर कूच किया। दिल्ली के तत्कालीन मुग़ल-गवर्नर तारदी बेग ने 7 अक्टूबर, 1556 ई. को कुतुब मीनार से 5 मील दूर तुग़लकाबाद में सामना किया, परन्तु वह हेमू से बुरी तरह पराजित हुआ। हेमू से भयभीत होकर सम्भल का मुग़ल-शासक अली कुली ख़ाँ भी भाग गया। हेमू ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की तथा सिक्के चलाये।

निःसन्देह यह भारतीय-इतिहास का स्वर्ण-दिवस था, जब एक विदेशी आक्रांता द्वारा स्थापित, परकीय सत्ता को उखाड़कर भारत में पुनः स्वकीय शासन स्थापित किया गया। एक इतिहासकार के अनुसार, '350 वर्षों (1206-1556 ई.) के विदेशी शासन को देश से उखाड़ फेंकने और दिल्ली में स्वदेशी शासन को पुनः स्थापित करके हेमू के साहसपूर्ण प्रयत्न की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।'¹

यहाँ पर क्षणिक रुककर यह विचारणीय अवश्य है कि हेमू की इस महान् राष्ट्रभक्ति तथा सफलता को यूरोपीय-इतिहासकारों, विशेषकर निष्पक्षता की दुहाई देनेवाले ब्रिटिश प्रशासक-इतिहासकारों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए हेमू के अदम्य उत्साह तथा साहस की प्रशंसा क्यों नहीं की तथा अकबर, जो स्वयं विदेशी था, उसकी वकालत क्यों की? वस्तुतः 'यह हेमू का न्यायोचित अधिकार था तथा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य भी।'² सत्य तो यह है कि स्वयं ब्रिटिश भी घुसपैठिये थे। इसलिए वे जान-बूझकर चुप रहे। अतः संक्षेप में कोई निष्पक्ष व्यक्ति इसके लिए हेमू की प्रशंसा तथा अद्भुत साहस की सराहना किए बिना नहीं रह सकता। यह तो हेमू के गौरवमय राष्ट्रीय चरित्र का उज्ज्वल प्रमाण है।

हेमू की निरन्तर सफलताओं से पंजाब में अकबर तथा उसका संरक्षक बैरम ख़ाँ परेशान हो गये। एक विचार ऐसा भी हुआ कि काबुल चला जाये, परन्तु बैरम ख़ाँ ने दिल्ली की ओर बढ़ने का निश्चय किया। सरहिंद में आगरा, दिल्ली और सम्भल के भगोड़े गवर्नर अकबर से आ मिले थे। उन्होंने भी काबुल जाने की सलाह दी थी। सेना में विश्वास तथा दिल्ली जाने की इच्छा को बनाए रखने के लिए बैरम ख़ाँ ने दिल्ली के गवर्नर तारदी बेग को तलवार से मार दिया।

1. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास*, पृ. 485
2. *वही*, पृ. 485

आखिर 05 नवम्बर, 1556 ई. को दोनों सेनाओं का संघर्ष पानीपत के मैदान में हुआ। हेमचन्द्र विक्रमादित्य के आँख में तीर लग जाने से समस्त युद्ध का पासा पलट गया। हेमचन्द्र के हाथी के हौदे से गिरते ही अनेक मुग़ल-घुड़सवारों ने उसे घेर लिया। उसे बेहोशी में ही अकबर के पास ले जाया गया। अकबर पानीपत में तीन कोस की दूरी पर सुरक्षित बैठा था। बैरम ख़ाँ ने अकबर से हेमचन्द्र के सिर को तलवार से छूने को कहा ताकि 'काफ़िर' को मारने पर अकबर को 'गाजी' की उपाधि मिल सके। बाद में बैरम ख़ाँ ने स्वयं ही हेमचन्द्र का सिर काट दिया। इसके बाद क्रूरता तथा नृशंसता का ताण्डव हुआ।

आगरे पर कब्ज़ा कर लिया गया। बाबर की भाँति क़त्ल-ए-आम किया गया। 'काफ़िरी' के सिरों का एक स्तम्भ बनाया गया। हेमचन्द्र के पिता 80-वर्षीय सन्त राय पूरनदास को पकड़कर मुसलमान बनने को कहा गया, न मानने पर उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया गया। हेमचन्द्र का सिर अफ़ग़ानों को दिखलाने के लिए काबुल भेजा गया तथा धड़ दिल्ली के पुराने क़िले पर, जहाँ हेमचन्द्र का राज्याभिषेक हुआ था, लटका दिया गया। क्या अकबर के इन कुकृत्यों से उसे भारतीय-राष्ट्रीयता का पोषक अथवा महान् कहा जा सकता है?

दुर्गावती जब रण में निकली

सम्राट् अकबर की गोण्डवाना-विजय (1564 ई.) उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा¹ तथा क्षुद्र स्वार्थ भावना की द्योतक है। अकबर के विश्वासपात्र अबुल फजल ने भी इसे अकबर की अदूरदर्शिता माना है। इतिहासकारों ने अकबर के इस आक्रमण को 'अकारण' माना है।² क्या वास्तव में यह आक्रमण अतिक्रमण के अलावा कुछ न था?³ विद्वानों ने रानी दुर्गावती (1524-1564) पर आक्रमण को 'भारत के इतिहास का सबसे दुःखांत नाटक' माना है।⁴ इससे पूर्व दिल्ली के किसी शासक ने गोण्डवाना पर आक्रमण न किया था।

रानी दुर्गावती समस्त मध्यकालीन भारतीय-इतिहास में सर्वश्रेष्ठ योद्धा,

1. विवियन, पूर्वोद्धृत, पृ. 496
2. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 496
3. वृ. पृ. स्मिथ, *अकबर : द ग्रेट मुग़ल* (1542-1605 ई.) (पृ. सं. 1917, पुनर्मुद्रण दिल्ली, 1962), पृ. 50-51
4. वृ. वृ. कुलकर्णी, *हीरोज़ हू मेक हिस्ट्री* (मुम्बई, 1965), पृ. 65

न्यायप्रिय शासिका तथा जनप्रिय मानी जाती हैं। नागपुर के तत्कालीन बिशप एयरे चैटरसन (1903-1926) ने अपनी पुस्तक 'द स्टोरी ऑफ़ गोण्डवाना' में उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। वह वह महोबा के चन्देल वंश के शासक की पुत्री और गोण्डवाना के प्रसिद्ध शासक संग्राम शाह के पुत्र दलपत की वीर पत्नी थीं। विवाह के चार वर्ष बाद ही दलपत की मृत्यु हो गई थी तथा उसका पुत्र वीरनारायण केवल तीन वर्ष का था। अतः वह उसकी संरक्षिका के रूप में शासन सम्भाल रही थीं। उन्हें शेरों का शिकार सर्वाधिक प्रिय था। अकबर की तुलना में रानी के सेना बहुत कम थी। अकबर ने आसफ़ ख़ाँ को उससे लड़ने के लिए अपार सेना देकर भेजा था। दो दिन तक भयंकर संघर्ष हुआ था। शत्रु द्वारा पकड़े जाने व अपवित्र होने की आशंका से रानी ने स्वयं छुरा भोंककर आत्महत्या कर ली। उसका अन्त उतना ही शानदार हुआ जैसा उसका पूर्व का जीवन था।¹ निःसन्देह उसका नाम भारत की योग्यतम पुत्रियों में माना जायेगा।² राजमहलों की महिलाओं ने जौहर किया। आसफ़ ख़ाँ को क़िले से अपार धनराशि तथा 1,000 हाथी मिले। पर उसने इसका आंशिक भाग ही अकबर को भेजा।

अतः संक्षेप में अकबर का यह अकारण भयंकर आक्रमण, किसी भी न्यायिक मापदण्ड से अनुचित था सिवाय केवल विजय तथा लूट के प्रेम से।³ प्रश्न है कि यह युद्ध अकबर की महानता का अथवा अत्यन्त निकृष्टता का द्योतक है?

महाराणा प्रताप का राष्ट्रप्रेम

अकबर का मेवाड़ (चित्तौड़) पर आक्रमण उसके जीवन का भयंकरतम युद्ध था। यह आक्रमण सम्राट् अकबर की उत्तरी भारत में सर्वोच्चता प्राप्त करने की नीति का भाग था।⁴ यह संघर्ष विदेशी साम्राज्यवाद तथा मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम से परिपूर्ण राष्ट्रवाद का युद्ध था। अकबर ने चित्तौड़ पर दो बार आक्रमण किये। प्रथम 1567 ई. में तथा एक दशक बाद 1576 ई. में। प्रथम संघर्ष मेवाड़-नरेश उदय सिंह (1537-1572) के साथ हुआ जो उदय सिंह के अनुसार 'एक मलेच्छ विदेशी' से था। उदय सिंह के विरुद्ध संघर्ष में बड़ी क्षति हुई। अकबर ने स्वयं 20

अक्टूबर, 1567 ई. से 23 फरवरी, 1568 ई. तक अर्थात् चार महीने तक घेरा डाला। क़िले पर अधिकार न होते देख अकबर ने बारूद से सुरंग बनाने की योजना बनायी। इसमें जयमल राठौर बुरी तरह से घायल हो गया। केलवा के 16-वर्षीय पुत्र फतेह सिंह (फत्ता सिसोदिया) ने संघर्ष जारी रखा था, प्राणों की आहुति देने पर भी सफलता न मिली थी। अकबर ने इस संघर्ष में मेवाड़ की अनेक कलाकृतियाँ नष्ट कर दीं। कर्नल टॉड और 'वीर विनोद' में इसका विशद वर्णन किया है। क्या विश्व का कोई निष्पक्ष इतिहासकार अकबर के इस धिनौने तथा कालिमायुक्त कारनामे को भूल सकेगा?

विजय होने पर अकबर ने भी बाबर की भाँति राष्ट्रभक्तों का क़त्ल करने का आदेश दिया। इस महायुद्ध में 30,000 हिंदुओं का संहार किया गया।¹ उल्लेखनीय है कि इतने वीभत्स अत्याचार तो क्रूर अलाउद्दीन खिलजी ने भी नहीं किए थे।²

चित्तौड़ हाथ से निकल जाने तथा हिंदुओं के भयंकर जनसंहार के पश्चात् भी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। 28 फरवरी, 1572 ई. को उदय सिंह की मृत्यु के पश्चात् महाराणा प्रताप (1572-1597) का गोगुण्डा नामक स्थान पर राज्याभिषेक किया गया। विपरीत परिस्थितियों में भी महाराणा प्रताप ने दिल्ली दरबार में उपस्थित न होकर संघर्ष का मार्ग चुना। मातृभूमि की रक्षार्थ उसके प्रयास निरन्तर चलते रहे।

इन महत्वपूर्ण अथक प्रयत्नों के लिए कौन महाराणा प्रताप की अतुल प्रशंसा न करेगा? शायद ही कोई देशद्रोही हो जो उसके प्रयासों को नकारे। यदि महाराणा प्रताप अत्यधिक कष्टों का मार्ग न चुनते तो सामाजिक अधोपतन होता तथा संघर्ष का मार्ग अवरुद्ध होता, केवल एक जागीरदार बनकर रह जाते, उनके परिवार के किसी व्यक्ति को मुग़ल-दरबार में रहना पड़ता। अकबर के साम्राज्य के लिए सेना देनी पड़ती तथा आर्थिक समृद्धि जुटानी पड़ती।³

अकबर ने तरह-तरह के लालच महाराणा प्रताप को दिये। जयपुर के राजा मान सिंह (1589-1614) को भेजा। उसके असफल लौटने पर राजा

1. बिशप एयरे चैटरसन, द हिस्ट्री ऑफ़ गोण्डवाना, उद्धृत, वी. वी. कुलकर्णी पृ. 66

2. वही, पृ. 46

3. वी. वी. स्मिथ, पूर्वोद्धृत

4. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 497

1. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 498

2. वी. वी. कुलकर्णी, पूर्वोद्धृत, पृ. 45

3. वही, पृ. 47

भगवानदास (1574-1589) को भेजा। बाद में राजा टोडरमल (मृत्यु : 1589) को भेजा। वस्तुतः अकबर ने धूर्ततापूर्ण ढंग से राजपूतों में 'फूट डालो तथा राज्य करो' की नीति अपनायी।¹ आखिरकार अकबर ने मान सिंह व आसफ़ ख़ाँ को एक विशाल सेना के साथ चित्तौड़ पर आक्रमण के लिए भेजा। मान सिंह राजभक्ति तथा आर्थिक लाभ से प्रेरित था जबकि महाराणा प्रताप के पास साधनों की अत्यधिक कमी थी, परन्तु माता के दूध की लाज रखने की प्रेरणा थी। आखिर 18 जून, 1576 ई. को दोनों के बीच यह महासंग्राम हल्दीघाटी में हुआ। प्रायः सभी इतिहासकारों ने इस युद्ध में राजपूतों के योगदान की बड़ी प्रशंसा की है। कुछ विद्वानों ने माना कि हल्दीघाटी का युद्ध राजपूतों के सैनिक-इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। जिस भाँति आगामी 1857 ई. के महासमर में भारत के प्रत्येक वर्ग, जाति अथवा सम्प्रदाय के लोगों ने भाग लिया था, इस स्वतन्त्रता-संग्राम में राजपुताना के प्रत्येक परिवार ने योगदान किया। वनवासी भील भी किसी से पीछे न रहे। यह युद्ध ऐसा था जिसमें दोनों दलों ने अपने को विजयी माना। तत्कालीन सभी भारतीय-स्रोतों— राजप्रशस्ति, अमर काव्य, वंशावली, *राणा रासो* तथा जगदीश मन्दिर के अभिलेख (जो 13 मई, 1652 ई. का है) से यह स्पष्ट होता है कि महाराणा प्रताप सिंह की सेना ने राजा मानसिंह की सेना को खदेड़ दिया था। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा (1929-2012)² ने हल्दीघाटी के महासंघर्ष के परिणामों की विशद व्याख्या की है। इस संघर्ष से मुग़ल-सेना का अजेय होने का विश्वास चकनाचूर हो गया। संघर्ष में मुग़लों के हाथ कुछ भी नहीं लगा, सिवाय महाराणा प्रताप के एक हाथी 'रामप्रसाद' के, जिसका नाम अकबर ने खुंदक में आकर 'पीर प्रसाद' रख दिया। इस युद्ध से भारतीय-जनता में विदेशी शासन से मुक्त होने की भावना तीव्र हुई।

यह कहना मूर्खता होगी कि अकबर, महाराणा प्रताप की वीरता से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने जीवनकाल में राणा प्रताप से संघर्ष नहीं किया। अकबर युद्ध के परिणाम से प्रसन्न न हुआ। मान सिंह बलि का बकरा बना तथा कुछ समय तक अकबर की अप्रसन्नता का पात्र बना रहा। अकबर के निष्फल प्रयत्न होते रहे। जबकि महाराणा प्रताप ने अधिकांश प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

1. वी. वी. कुलकर्णी, पूर्वोद्धृत, पृ. 49
2. डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा, पूर्वोद्धृत, पृ. 311-314

अकबर ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए मालवा, जौनपुर, मेरठा, रणथम्भौर, कालिंजर, गुजरात, काबुल, काश्मीर, सिंध, उड़ीसा, बलूचिस्तान तथा कन्धार पर भी आक्रमण किये। उसने दक्षिण भारत में खानदेश व अहमदनगर को भी जीता। उसकी अधिकतर लड़ाइयाँ साम्राज्यवादी नीति का ही अंग थीं। विश्व-प्रसिद्ध मार्क्सवादी-चिन्तक डॉ. रामविलास शर्मा (1912-2000) ने लिखा कि यदि अकबर के सामने चक्रवर्ती सम्राटों का आदर्श होता तो वह गुजरात और बंगाल-जैसे क्षेत्रों को विशेष रक्तपात के बिना स्वायत्त शासन प्रदेश रहने देता। विभिन्न युद्धों से भयंकर रक्तपात, नरसंहार, नृशंसता करने के पश्चात् भी उसकी एक लालसा जीवनभर बनी रही। वह थी अपने पूर्वजों की भूमि मध्येशिया तथा फरगना प्राप्त करने की। इस दिशा में उसने कन्धार (1595 ई.) पर आक्रमण भी किया पर आगे न बढ़ सका।

अकबर की धार्मिक कुटिलता

धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी अकबर के कुकृत्य किसी भी विदेशी धर्माध्य-शासक से कम न थे। इस दिशा में ब्रिटिश इतिहासकारों की भाँति भारतीय-मार्क्सवादी इतिहासकारों तथा कतिपय सेकुलरवादियों ने सुर-में-सुर मिलाकर अकबर को 'महान्', 'राष्ट्रीय' तथा उसके योग को 'शानदार' कहने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। परन्तु तथ्यों के आधार पर यह सही नहीं बैठता।

पानीपत के युद्ध के बाद अकबर ने हेमचन्द्र का सिर काटकर 'गाज़ी' की उपाधि प्राप्त की थी। इतनी छोटी आयु में वह 'गाज़ी' की उपाधि प्राप्त करनेवाला भारत में पहला और आखिरी मुग़ल-बादशाह था। प्रारम्भ में बदायुँनी (1540-1615) के अनुसार वह दिन में पाँच बार नमाज़ नित्य पढ़ता था। उसने मक्का जानेवाले यात्रियों को एक भारी धनराशि सरकारी ख़ज़ाने से दी थी।³ उसके द्वारा स्थापित इबादतख़ाने में प्रारम्भ में केवल शेखों और उलेमाओं का प्रभुत्व था जो परस्पर लड़ते रहते थे। 1579 ई. में अकबर ने भी सिकन्दर अथवा अलाउद्दीन ख़िलज़ी की भाँति लौकिक के साथ आध्यात्मिक जगत् का भी स्वामी बनने की महात्वाकांक्षा की। इस सन्दर्भ में विद्वान् निज़ामुद्दीन अहमद के

1. देखें, डॉ. रामविलास शर्मा, *इतिहास दर्शन*
2. वी. ए. स्मिथ, पूर्वोद्धृत
3. वही, पृ. 48

अनुसार¹ 1591-1592 ई. में इस्लाम को प्रारम्भ हुए लगभग एक हजार वर्ष पूरे हो रहे थे। इस काल में यह अफ़वाह ज़ोरों पर थी कि मेहंदी नाम का पैग़बर होनेवाला है। इस संबंध में यदि अकबर देरी करता, तो उसकी महत्वाकांक्षा पूरी होने में कठिनाई आती। अतः अकबर ने शेख़ मुबारक नागौरी (1505-1593) व उसके दोनों पुत्रों— शेख़ फैज़ी (1547-1595) तथा अबुल फजल (1551-1602) की सहायता से 1579 ई. में, अर्थात् 12-13 वर्ष पूर्व ही एक मज़हर (प्रपत्र) तैयार करवायी। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें अकबर के विश्वासपात्र एवं मित्र अबुल फजल का विशेष योगदान था। सितम्बर, 1579 ई. में इस मज़हर में सम्पूर्ण भारत में इस्लाम-संबंधी झगड़ों में अकबर को फ़ैसला करने का अधिकार दिया गया।² इस मज़हर पर तत्कालीन प्रमुख धार्मिक नेताओं— मख़दूम-उल्-मुल्क व शेख़ अब्दुल नबी के भी हस्ताक्षर कराए गये। इसमें बतलाया गया कि, ‘न्यायप्रिय राजा का स्थान ईश्वर की दृष्टि से मुज़हादिक (धार्मिक नेता) से कहीं अधिक ऊँचा होता है।’

इस मज़हर में अकबर को इतनी अधिक उपाधियाँ दी गई जितनी शायद ही विश्व में किसी भी मुस्लिम-शासक को दी गई हों। उसे ईश्वर का स्वरूप, ‘अबुल फ़तह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर’, ‘बादशाह-ए-गाज़ी’, ‘शहंशाह अकबर-ए-आज़म’, सबसे अधिक न्यायप्रिय और बुद्धिमान राजा और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कहा गया।³ यह मज़हर ‘सब लोगों के लिए बाध्य थी’ और उसका उद्देश्य ‘इस्लाम का प्रचार’ बतलाया गया।⁴ विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा कि इससे अकबर की धार्मिक तथा सामाजिक गुप्त भावनाएँ प्रकट होती हैं।⁵ यह एक सुनियोजित पाखण्ड की नीति थी।⁶ इतना ही नहीं, अकबर ने अपने राज्यकाल के प्रारम्भ (1556 ई.) से प्रारम्भ होनेवाला ‘तारीख़-ए-इलाही’ कैलेण्डर भी प्रारम्भ

किया तथा इसे सरकारी रूप से नया संवत् माना गया।¹

अकबर ने 1582 ई. में ‘दीन-ए-इलाही’ धर्म की स्थापना की। यह उसके राजनीतिक प्रपञ्च का अगला पक्ष था। इसके लिए उसने ईसाई, पारसी, जैन, शिया, सूफ़ियों तथा हिंदुओं को बुलाया। अकबर इसके द्वारा धर्म का प्रधान पुरोहित बन गया। इसके सदस्यों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कसौटी पूर्ण राजभक्ति की शर्त थी। इसके अनुयायी परस्पर अभिवादन पर ‘अल्लाह-ओ-अकबर’ तथा ‘जल्लालहू’ कहते थे। स्वयं अबुल फजल ने माना कि लोग ‘अल्लाह-ओ-अकबर’ (अल्लाह महान् है) का यही अर्थ लेते थे कि अकबर ही अल्लाह है। विन्सेन्ट स्मिथ ने दीन-ए-इलाही को अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं बल्कि उसकी मूर्खता का उदाहरण बतलाया है।² उसने लिखा कि सम्पूर्ण योजना मिथ्यास्पद तथा निरंकुश स्वेच्छाचारिता का विकास थी।³ आश्चर्य है कि अकबर के मरते ही इस धर्म का एक भी पोषक नहीं रहा।

ब्रिटिश इतिहासकारों तथा प्रशंसकों को सम्राट् अकबर की जो नीति सर्वश्रेष्ठ लगी वह थी उसकी राजनीति, जिसमें परस्पर अलगाव तथा टकराव के तत्त्व थे, जिससे भारत में विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों एवं समुदायों में अलगाव स्थापितकर लम्बे समय तक राज्य किया जा सके। अंग्रेज़ों ने अंत तक इस ‘विभाजन तथा राज्य करो’ की नीति का पोषण किया। उल्लेखनीय है कि भारत में अंग्रेज़ी-शासन का अन्तिम वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन (1947 ई.)⁴ भी अपने अन्तिम पाकिस्तान के सदन में अकबर को श्रद्धाञ्जलि देना न भूला। जेम्स टॉड (1782-1835), विलियम विल्सन हण्टर (1840-1900), जे. डब्ल्यू. केयी, जी. वी. मेलीशन, विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ आदि प्रायः सभी ने अकबर की नीति का अनुमोदन किया। अंग्रेज़ों ने भी भारत में यही संरक्षण तथा शोषण की नीति

1. देखें, निज़ामुद्दीन अहमद, *तबकात-ए-अकबरी*, भाग-3; विवियन, पूर्वोद्धृत, पृ. 62
2. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 518
3. *वही*, पृ. 519
4. *वही*, पृ. 519
5. वी. ए. स्मिथ, पूर्वोद्धृत, पृ. 159
6. *वही*, पृ. 159; एस्. सी. मित्तल, *इण्डिया डिस्टोर्टेड : ए स्टडी ऑफ़ ब्रिटिश हिस्टोरियन्स ऑन इण्डिया*, भाग-3, पृ. 412

1. अमृत्यु सेन, *द आर्ग्यूमेंटेन्टीय इण्डियन* (पेंगुइन, 2005), पृ. 331
2. वी. ए. स्मिथ, पूर्वोद्धृत, पृ. 160
3. *वही*, पृ. 160
4. देखें, दिनांक 14 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की संविधान सभा में लॉर्ड माउन्टबेटन का भाषण, *इण्डियन एक्सप्रेस* (15 अगस्त, 1947); अकबर के प्रति नीति के विस्तार के लिए देखें, हरबन्स मुखिया, *हिस्टोरियन्स एण्ड हिस्टोग्राफी ड्यूरिंग द रेन ऑफ़ अकबर* (नयी दिल्ली, 1976)

अपनाई थी।¹

जहाँगीर तथा शाहजहाँ की मतान्धता

अकबर के पश्चात् दिल्ली के मुगल-शासक जहाँगीर तथा शाहजहाँ बने। दोनों ही अत्यधिक विलासी तथा मतान्ध थे। दोनों सुरा के साथ सुन्दरी तथा सौन्दर्य के भूखे थे। स्वयं जहाँगीर के अनुसार वह प्रायः बीस प्याले शराब नित्य लेता था। पारिवारिक दृष्टि से दोनों का जीवन सामान्य न था।² अकबर, जहाँगीर को अपना 'बिगड़ैल पुत्र' मानता था।

चित्तौड़ के स्वदेशप्रेमियों ने इन विदेशी शासकों के प्रति सिर न झुकाया। जहाँगीर के साथ महाराणा प्रताप के पुत्र राजा अमर सिंह प्रथम (1597-1620) से संघर्ष चलता रहा जो 1613 ई. में मेवाड़ की सन्धि के साथ समाप्त हुआ। शहाजहाँ की भी इसे तोड़ने की हिम्मत न हुई। बुन्देलखण्ड में बुन्देले तथा राजस्थान (जोधपुर) में अमर सिंह राठौर (?-1644) अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते रहे।

इन शासकों की भी महत्वाकांक्षा कन्धार तथा मध्येशिया अर्थात् अपने पूर्वजों की भूमि तक पहुँचने की रही। परन्तु जहाँगीर के काल में कन्धार भी हाथ से निकल गया। शाहजहाँ की नीति भी असफल रही। उसने गिनती में 48 लडाइयाँ लड़ी थीं पर सफलता न के बराबर थी। उसने भी अपने पूर्वजों की भाँति ऑक्सस नदी व हिंदुकुश पर्वत के मध्य ट्रान्जिक्सोनिया के प्रदेश पर आधिपत्य चाहा। इससे पूर्व बाबर ने इस समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु देर तक कब्ज़ा न रख सका था। डॉ. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार यह विजय-योजना भावनात्मक भी थी तथा उसका लगाव अपने पूर्वजों की भूमि से था। बल्लू तथा बदख़्शाँ प्राप्त करने के लिए कन्धार पर अधिकार आवश्यक था। कन्धार जीतने के लिए शाहजहाँ ने तीन बार, क्रमशः 1649, 1652 तथा 1653 ई. में बड़े प्रयत्न किए, परन्तु वह एक इंच भूमि भी प्राप्त न कर सका। इस प्रकार शाहजहाँ ने भारतीय-राजकोष के 12 करोड़ रुपये खर्च किए तथा हज़ारों भारतीय-सैनिक

मरवा दिये।

धार्मिक दृष्टि से उक्त दोनों शासक धर्मांध तथा रुढ़िवादी थे। उदाहरण के लिए जहाँगीर ने 1611 ई. में जगन्नाथपुरी पर आक्रमण किया। 1620 ई. में किश्तवार पर आक्रमण कर, काश्मीर के प्रसिद्ध वेरीनाग मन्दिर को विनष्ट किया। मेवाड़ तथा कांगड़ा में ही ऐसा किया। वराह अवतार की प्रसिद्ध मूर्ति को नष्ट करवाया तथा उसको नष्ट कर टुकड़े तालाब में फिंकवा दिये। सिक्ख धर्म के प्रति वह अत्यन्त रुढ़िवादी था तथा सिख गुरुओं को अनेक कष्ट दिये। उसने श्वेताम्बर जैनियों को अनेक कष्ट दिये। शहाजहाँ ने इससे भी आगे बढ़कर अनेक मन्दिरों का ध्वंस किया। बनारस में 76 मन्दिर गिराए गये।³ नये मन्दिरों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाये। हिंदुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया। धर्म परिवर्तन को प्रोत्साहन दिया। शियाओं के प्रति उन्होंने कठोर नीति अपनायी। एक विद्वान् के अनुसार 'शाहजहाँ की धार्मिक कट्टरता एवं असहिष्णुता ने ही औरंगज़ेबी प्रतिक्रियावादी शासन-पद्धति को जन्म दिया।'⁴ उसकी यह नीति औरंगज़ेब के कट्टर शासन की अग्रदूत बनी।⁵

औरंगज़ेब : भारतीय-राष्ट्रीयता का शत्रु

औरंगज़ेब मुगल-वंश का सबसे दुर्भाग्यशाली शासक था। उसके काल में राजनैतिक दृष्टि से सर्वाधिक विस्तार हुआ, परन्तु उसकी धार्मिक असहिष्णुता तथा प्रतिक्रियावादी नीति ने उसके काल में सर्वाधिक विद्रोहों को जन्म दिया। उसने अपने कुकृत्यों से भारतीय-राष्ट्रीयता की उदारता तथा सर्वधर्म सद्भाव की जड़ों को हिलाने का प्रयत्न किया। साथ ही उसने अपनी क्रूर तथा धर्म-विरोधी नीतियों से मुगल-शासन की नींव को ही हिला दिया। यद्यपि बाबर से अकबर तथा जहाँगीर-शाहजहाँ के काल में राणा सांगा, हेमचन्द्र विक्रमादित्य तथा महाराणा प्रताप द्वारा भारत की राष्ट्रीय भावना को विकसित करने के प्रयत्न हुए थे, परन्तु औरंगज़ेब के काल में गुरु गोविन्द सिंह (1666-1708) तथा छत्रपति शिवाजी (1630-1680) द्वारा इसके पुनः सफल प्रयास हुए।

औरंगज़ेब मुगल-शासकों में सर्वाधिक धर्मांध, परिवार में नीचतापूर्ण

1. एसू सी मित्तल, *इण्डिया डिस्टोर्टेड : ए स्टडी ऑफ़ ब्रिटिश हिस्टोरियन्स ऑन इण्डिया*, भाग एक, पृ. 93-94
2. बेनी प्रसाद, *हिस्ट्री ऑफ़ जहाँगीर* (द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, 1930), पृ. 27; डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 703

1. वी. ए. स्मिथ, *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया*, पृ. 397
2. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 703
3. *वही*, पृ. 703

व्यवहार तथा एक महाशक्ती स्वभाव का व्यक्ति था। उसका राज्याभिषेक एक बार नहीं, चार बार हुआ था। औरंगज़ेब भी राज्य-विस्तार का इच्छुक था। उसने असम पर तीन बार आक्रमण किया पर नाममात्र की सफलता मिली। उसने उत्तर-पश्चिम की ओर ध्यान दिया। कबायली सरदारों को भारी रिश्वतें तथा ऊँचे ओहदे देकर फुसलाना चाहा तथा शान्ति स्थापित करनी चाही पर सदैव अराजकता बनी रही। कबायलियों ने पेशावर पर अधिकार कर लिया पर निरन्तर विद्रोह होते रहे। दक्षिण भारत में किसी भाँति बीजापुर तथा गोलकुण्डा पर आधिपत्य प्राप्त किया, परन्तु दक्षिण में उसके मुख्य शत्रु शिवाजी (शासनकाल : 1674-1680) तथा उनका परिवार— सम्भाजी प्रथम (1680-1689), राजाराम (1689-1700) व ताराबाई (1700-1708) बने रहे। विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार दक्षिण भारत केवल औरंगज़ेब की कब्र नहीं, मुगल-साम्राज्य की कब्र साबित हुआ। औरंगज़ेब के पास जो भी था, वह भी नष्ट कर लिया, 'औरंगज़ेब ने अपने पीछे केवल उजड़े हुए प्रदेश छोड़े, जहाँ कोई पेड़ भी न था।'

कुछ मुस्लिम-इतिहासकारों तथा मार्क्सवादी-समर्थकों ने औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टरता तथा धर्माधता का श्रद्धापूर्वक समर्थन किया है। एक मार्क्सवादी-इतिहासकार ने औरंगज़ेब को 'ज़िंदा पीर' ही बता दिया। औरंगज़ेब की दैनिक पाँच बार नमाज़ पढ़ना, रोज़े रखना, कुरआन पढ़ना आदि की कोई भी आलोचना न करेगा, परन्तु जब वह बगुले की भाँति दूसरे धर्मों के प्रति टेढ़ी दृष्टि रखे, उनको समूल रूप से नष्ट करने की सोचे, तो कोई भी उसके क्रियाकलापों को कोई महत्त्व नहीं देगा। इस धर्मपरायण देश में औरंगज़ेब का विरोध प्रमुख रूप से उसकी धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता, धर्माधता तथा दूसरे धर्मों की स्वतन्त्रता को नष्ट करने के कारण हुआ।

औरंगज़ेब ने भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के साथ खिलवाड़ किया। भारत के आध्यात्मिक तथा धार्मिक केन्द्रों को नष्ट किया। उसके शासनकाल में सैकड़ों मन्दिरों को नष्ट किया गया। बाबर ने तो जहाँ भारतीयों के पवित्र आस्था-स्थल श्रीरामजन्मभूमि को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण किया था, वहाँ औरंगज़ेब ने मथुरा में श्रीकृष्णजन्मभूमि तथा काशी के विश्वनाथ-मन्दिर को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण करवाया। उसने भारत को 'दार-उल्-हरब' से

1. सतीश चन्द्र, *मध्यकालीन भारत*, भाग-2, (नयी दिल्ली, 1986 सं.), पृ. 85

'दार-उल्-इस्लाम' बनाने के लिए सुन्नी धर्म को राज्यधर्म घोषित किया। मुताहासियों की नियुक्तियाँ कीं। राजस्थान के सैकड़ों मन्दिरों को गिराया गया। अम्बेर, जोधपुर, अयोध्या, हरिद्वार में अनेक मन्दिर गिराये। मन्दिरों को गिराने का एक अलग विभाग स्थापित किया। हिंदुओं पर जज़िया तथा यात्रा-कर लगाये। इस्लाम-धर्म अपनाने पर अनेक सुविधाओं की घोषणा हुई। हिंदुओं के सामाजिक रीति-रिवाजों, त्योहारों, पर्वों पर प्रतिबन्ध लगाये।

आस्थाओं, मान्यताओं, जीवन-मूल्यों के प्रति प्रहार से औरंगज़ेब का चहुँओर तीव्र विरोध हुआ। यह विरोध गोकुल नामक जाट के नेतृत्व में मथुरा से प्रारम्भ हुआ। बाद में राजाराम, रामचंरा व चूड़ामल ने इसे आगे बढ़ाया। नारनौल व मेवात क्षेत्र में सतनामी-सम्प्रदाय ने तीव्र संघर्ष किया, जिसमें 2 हज़ार सतनामी मारे गए। स्थान-स्थान पर हिंदुओं, राजपूतों तथा शियाओं द्वारा प्रतिरोध हुआ।

मुगल-शासकों का सिख-गुरुओं से संघर्ष गुरु नानकदेव (1469-1539) के काल से हो गया था जब गुरु नानक ने बाबर के अत्याचारों की कटु आलोचना की थी। जहाँगीर ने 5वें सिख-गुरु अर्जुनदेव (1581-1606) को अत्यधिक कष्ट दिए थे। औरंगज़ेब के काल में काश्मीरी पण्डितों के सुरक्षार्थ सिख-पंथ के नवें गुरु तेगबहादुर (1665-1675) का दिल्ली में बलिदान हुआ था। गुरु गोविन्द सिंह ने 30 मार्च (वैशाखी), 1699 ई. को खालसा-पंथ की स्थापनाकर मुगलों से टक्कर ली थी। इस संघर्ष में उनके चारों पुत्रों का बलिदान हुआ था। सम्भवतः यह भारतीय-इतिहास में देश तथा धर्मरक्षार्थ विश्व के सम्मुख महानतम उदाहरण था। इसके पश्चात् भी निर्भीक-निडर गुरु गोविन्द सिंह ने 1705 ई. में औरंगज़ेब को *ज़फ़रनामा* (विजय-पत्र)¹ भेजा था जिसमें उसके देशघातक कुकृत्यों का ब्योरा दिया था। इसी भाँति बुन्देलखण्ड में चम्पतराय के नेतृत्व में मुगलों को चुनौती दी गयी, जिससे बुन्देलखण्ड सतत संघर्ष का केन्द्र बन गया था। बाद में छत्रसाल (1707-1731) के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई थी। मेवाड़ तथा मारवाड़ (जोधपुर) में भी राज सिंह प्रथम (1652-1680) व अजीत सिंह

1. देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, 'गुरु गोविन्द का औरंगज़ेब को विजय-पत्र' *पाञ्चजन्य*, 22 मई, 2011, ज़फ़रनामा का अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। हिंदी में बालकृष्ण मुंजतर (कुरुक्षेत्र, 1990), जनजीवन जोत सिंह आनन्द ने (देहरादून, 2006) में अनुवाद किये, गुरुमुखी में महेन्द्र सिंह तथा सुरेन्द्रजीत सिंह ने इसका अंग्रेज़ी से अनुवाद किया। इससे पूर्व नवतेज सिंह सरन ने भी इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था।

(1680-1725) ने संघर्ष किया।

शिवाजी : भारतीय-राष्ट्रीयता के प्रतीक

दक्षिण भारत में शिवाजी महाराज का उदय भारतीय-राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय चरित्र का एक महान् प्रतीक बन गया। उन्होंने भारत की मातृभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा तथा भारतीय-सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना की। उनके जीवन तथा कार्यों पर अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अतः यहाँ उसके विस्तारपूर्वक वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

औरंगज़ेब का भयंकर संघर्ष शिवाजी महाराज के साथ हुआ, जो उसके लिए जी का जंजाल बन गया। शिवाजी के रूप में हिंदू-शक्ति का अभ्युदय तथा जागरण औरंगज़ेब के लिए अभिशाप हो गया था। शिवाजी का लक्ष्य भारतभूमि से विदेशी सत्ता को नष्टकर, सुविशाल हिंदू-साम्राज्य की स्थापना करना था। इसी हेतु उन्होंने औरंगज़ेब और उसके अधिकारियों को कई बार पराजित किया। सन् 1659 में उनके द्वारा अफ़जल ख़ाँ का वध एक अंतर्राष्ट्रीय घटना थी।¹ सन् 1674 में उन्होंने में रायगढ़ में हिंदवी साम्राज्य की स्थापनाकर एक महापराक्रम का यशस्वी कार्य किया था। उनका राज्याभिषेक एक युगपरिवर्तनकारी तथा वैश्विक महत्त्व की घटना थी।² प्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार (1870-1958) ने लिखा, 'शिवाजी के राष्ट्रव्यापी कार्य से औरंगज़ेब तथा अन्य सभी मुग़ल-ताक़तें विचलित हो गई थीं। औरंगज़ेब शिवाजी के विरुद्ध अनेक सेनापतियों को भेजता था, पर हर बार एक ही प्रश्न रहता कि अब किसे भेजा जाए?' शिवाजी के पश्चात् सम्भाजी, राजाराम व ताराबाई भी औरंगज़ेब के लिए विनाशकारी साबित हुए थे। पेशवाओं के द्वारा भी हिंदूपदपादशाही की स्थापना की गई थी। सर यदुनाथ सरकार ने एक अन्य स्थान पर लिखा, 'मराठा-जाति अपने उदय से पूर्व छोटे-छोटे अणुओं की भाँति दक्षिणी रियासतों में बँटी हुई थी, उसने (शिवाजी ने) उन्हें एक मज़बूत राष्ट्र में बाँध दिया..... किसी अन्य हिंदू ने

1. देखें, *श्री गुरुजी समग्र दर्शन*, खण्ड 6, पृ. 77; अफ़जल ख़ाँ के जीवन तथा उसकी वध के घटना के लिए देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *मराठा-शक्ति का उदय : महान संगठक शिवाजी* (दिल्ली, 1977), पृ. 124-136
2. सतीश चन्द्र मित्तल, 'शिवाजी का राज्याभिषेक', *श्री हंड्रेड एनिवर्सरी ऑफ़ कोरोनेशन ऑफ़ छत्रपति शिवाजी महाराज* (सोविनियर, महाराष्ट्र सरकार, नयी दिल्ली, 1974), पृ. 60-63

आधुनिक युग में इतनी प्रतिभा का परिचय न दिया था।'¹

हिंदू-मुस्लिम संबंध

प्रश्न है कि उपर्युक्त मज़हबी उन्माद— दिल्ली-सल्तनत के पठानों तथा मुग़ल-शासकों के प्रयत्नों ने भारतीय-जनजीवन के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन को कहाँ तक प्रभावित किया? प्रसिद्ध कथन है— 'राजनीति तोड़ती है, धर्म जोड़ता है'। अतः इस काल में भारत के सन्तों तथा भक्तों ने सबको जोड़ने का प्रयत्न अवश्य किया तथा इसे भारत की जड़ों तक पहुँचाया। उन्होंने भारत के जीवन-मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे भारत की राजनीति पर हावी न हो सके। मुहम्मद-बिन-क़ासिम से मुग़लों के अन्तिम शासक बहादुरशाह ज़फ़र द्वितीय (1837-1858) तक मुस्लिम-शासकों द्वारा धर्मांधता तथा दार-उल्-हरब से दार-उल्-इस्लाम के जिहादी-नारे ने हिंदू-समाज को अपने ही देश में अछूत-सा बनाए रखा। मुस्लिम-शासनकाल में हिंदू दूसरी अथवा तीसरी श्रेणी के नागरिक बने रहे।¹ मुसलमान हिंदुओं को 'काफ़िर' कहते तथा हिंदू उन्हें घृणा से 'म्लेच्छ' कहकर पुकारते। सम्पूर्ण मुस्लिम-काल में मुसलमानों द्वारा ज़बरदस्ती धर्मांतरण होता रहा। हिंदुओं पर जज़िया-कर लगाया। हिंदू सम्पूर्ण भारत में तीर्थयात्रा न कर सकें तथा उनमें किसी प्रकार का राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय एकता का भाव उत्पन्न न हो, इसके लिए समय-समय पर यात्रा-कर लगाया गया। मूर्तियों तथा मन्दिरों को खण्डित करने का योजनापूर्वक प्रयास होता रहा। स्वाभाविक है कि हिंदुओं में अस्थायी तौर पर निराशा आयी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू तथा मुसलमानों में जो कटुता आई, वह आज तक समाप्त न हुई।

जहाँ एक ओर मुस्लिम-शासक बलबन, अलाउद्दीन ख़िलजी, मुहम्मद बिन तुग़लक़, फ़िरोज़शाह तुग़लक़, सिकन्दर लोदी, बाबर, औरंगज़ेब आदि भारत के इस्लामीकरण के प्रयत्नों में जुटे रहे, वहीं दूसरी ओर कठमुल्लों, मौलवियों तथा उलेमाओं ने हिंदुओं के प्रति कटुता पैदा करने में कोई कसर न रखी। तभी सूफ़ी-चिन्तन से प्रभावित शाहजहाँ के पुत्र दारा शिकोह (1615-1659) को

1. यदुनाथ सरकार, *शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स*, (कोलकाता, 1928), पृ. 405; एस् डी कुलकर्णी, *ए स्टडी ऑफ़ इण्डियन कल्चर*, भाग-4, पृ. 138
2. हृदय नारायण दीक्षित, 'अकबर की याद का अवसर', *दैनिक जागरण*, 03 फरवरी, 2006

कहना पड़ा कि, 'बहिस्त उसी जगह है जहाँ मुझे और मौलवी नहीं हैं और वहाँ उनका शोर सुनाई नहीं देता।'¹

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने मुसलमानों के वहशीपन का वर्णन अपने ग्रन्थ में इन शब्दों में किया, 'लड़ाई, मारकाट के दृश्य तो हिंदुओं ने बहुत देखे थे परन्तु उन्हें सपने में भी उम्मीद न थी कि संसार में एकाध जाति ऐसी भी हो सकती है, जो मूर्तियों को तोड़ने और मन्दिरों को भ्रष्ट करने में सुख माने। जब मुस्लिम-आक्रमण के समय मन्दिरों तथा मूर्तियों पर विपत्ति आई तो हिंदुओं का हृदय फट गया और वे इस्लाम से तभी से भड़के सो आज तक भड़के हुए हैं।'²

वस्तुतः न ही मुस्लिम-शासकों अथवा मुसलमानों का भारतीयों से कोई लगाव था। उनका लगाव केवल भारत की अपार धन-सम्पत्ति से था। उनके द्वारा भारतीयों के समरस होने अथवा उनके साथ भाईचारा स्थापित करने का कोई प्रयत्न न हुआ। सही बात तो यह है कि इस्लाम मज़हब में मुस्लिम-भ्रातृत्व के अलावा विश्व-बन्धुत्व या 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-जैसा कोई चिन्तन है ही नहीं।

मुस्लिम-शासक भारत के धन-वैभव से अवश्य सदैव लालायित रहे, परन्तु उन्होंने कभी भारतभूमि को अपनी पितृभूमि या पुण्यभूमि नहीं माना। मुग़ल-शासकों में बाबर को सर्वदा फरगना तथा काबुल की याद सताती रही। हुमायूँ फ़ारस की ओर भागता रहा। अकबर समरकन्द व कन्धार की तड़प लिए फिरता रहा। शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब मध्येशिया की ओर दौड़ते रहे। उन्होंने भारतभूमि को भोगभूमि के अलावा कोई महत्त्व न दिया। संक्षेप में इसी भाँति मुसलमान भी भारत-भक्ति से विरत रहे।

यदुनाथ सरकार ने लिखा, 'रूढ़िवादी मुसलमान ने सदैव यही अनुभव किया कि वह भारत में रहता अवश्य है परन्तु भारत का अविभाज्य अंग नहीं है। उसे अपने हृदय में, "भारतीय-परम्पराओं, भाषा और सांस्कृतिक वातावरण अपनाने के बजाय उन्हें फ़ारस और अरब से आयात करना अच्छा लगता है। भारतीय-मुसलमान बौद्धिक दृष्टि से विदेशी थे। वे भारतीय-पर्यावरण के अनुरूप हृदय को नहीं बना पाये।'³

1. दारा शिकोह, *सीर-ए-अकबर* (उद्धृत), सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज*
2. रामधारी सिंह 'दिनकर', *संस्कृति के चार अध्याय*
3. यदुनाथ सरकार, *ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ औरंगज़ेब*, पृ. 393

इसी भाँति प्रसिद्ध इतिहासकार स्टेनली लेनपूल का विचार है कि, 'नौ शताब्दियों के सम्पर्क के पश्चात् भी हिंदू-मुसलमान में कोई भावपूर्ण संबंध स्थापित न हो सके। अतः तभी से हिंदू तथा मुसलमान के बीच एक ऐसी खाई बन गई जो आज भी मूल रूप से बनी हुई है। विश्व में किसी भी देश में मुसलमानों का अलगाव इतना नहीं दिखलाई देता जितना भारत में। आज भी भारत का सामान्य हिंदू तथा मुसलमान एक-दूसरे से अपरिचित है। परस्पर के इस वैमनस्य ने वर्तमान भारत में अनेक जटिल समस्याओं को जन्म दिया, जो भारत के विकास में बाधक हैं।'¹

भारत में राष्ट्रीय कौन?

यह भारतीय-इतिहास की विडम्बना है कि कुछ 'एमीनेंट' वामपंथी-इतिहासकारों ने तथा तथाकथित सेकुलरवादियों ने भारत में मुस्लिम-शासनकाल का तथा इसके राष्ट्रीय स्वरूप का तथ्यरहित, भ्रामक तथा मनमाना विश्लेषण किया है। इनके अनुसार 'भारत में मुस्लिम शासनकाल भारत का शानदार युग' तथा मुग़ल-बादशाह के काल को 'महान् मुग़ल-साम्राज्य' बताया।² इन लेखकों ने मुस्लिम-शासकों, विशेषकर मुग़ल-बादशाहों को महिमामण्डित किया तथा इन विदेशी आक्रमणकर्ताओं से संघर्ष करनेवाले स्वतन्त्रता-सेनानियों को इतिहास में कोई स्थान नहीं दिया। वामपंथी-इतिहासकारों द्वारा लिखित और एनू सी ई आर टी द्वारा प्रकाशित 1969 ई. में कक्षा 6 से 12वीं तक की इतिहास की पुस्तकों अथवा 2006 ई. में पुनः नवीन सामाजिक अध्ययनों की पुस्तकों में उनका मन्तव्य साफ़ झलकता है। उदाहरण के लिए इनमें बाबर का वर्णन है, राणा सांगा का नहीं। अकबर का वर्णन है पर हेमचन्द्र विक्रमादित्य, रानी दुर्गावती या महाराणा प्रताप का नहीं, औरंगज़ेब का यशोगान है, पर शिवाजी महाराज का वर्णन केवल दो पंक्तियों में है और वह भी नकारात्मक। मुग़ल-शासन को एक 'आदर्श' राज्य बताते हुए एक दैवीय प्रकाश की भी बात गढ़ी गई तथा 10वीं शताब्दी की एक मंगोल-रानी अलानगोआ की बेलुकी कहानी भी मूल पाठ्यक्रम में डाल दी गई जो सूर्य की किरणों से गर्भवती हो गई। पुस्तक में जहाँगीर की न्याय की जंजीर का अविवेकपूर्ण विस्तृत विवरण किया गया है

1. स्टेनली लेनपूल, पूर्वोद्धृत, पृ. 423
2. बिपिन चन्द्र, *मॉडर्न इण्डिया* (नयी दिल्ली, 2005), लेखक ने अपनी पुस्तक का प्रारम्भ ही महान् मुग़ल-साम्राज्य से प्रारम्भ किया है, देखें पृ. 1

जिसका एक बार भी कभी प्रयोग नहीं हुआ।

वामपंथी-इतिहासकारों ने मनमाने ढंग से राष्ट्रीयता को दो भागों में विभाजित कर दिया। एक को विशुद्ध राष्ट्रवादी कहा तथा दूसरे को सीमित अर्थ में राष्ट्रवादी माना। इन्होंने मुगल-शासक अकबर, औरंगज़ेब-जैसे खलनायकों को विशुद्ध 'राष्ट्रीय शासक' बतलाया तथा महाराणा प्रताप, शिवाजी-जैसे राष्ट्र-नायकों को दूसरी श्रेणी में रखा।¹ वास्तव में यह विचित्र तथा मनगढ़न्त विश्लेषण है जिसमें विदेशी आक्रमणकारी 'राष्ट्रीय' तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले दूसरी श्रेणी के बन गये। वस्तुतः इन्हें शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह तथा राष्ट्रीय नेता कहने में आपत्ति है। इन सभी विद्वानों ने इतिहास को इस ढंग से तोड़ने-मरोड़ने तथा लीपापोती करने की कारणमीमांसा भी नहीं की। सम्भवतः वे तीन-चार कारणों से मुगल-शासकों को 'राष्ट्रीय' होने का प्रमाण-पत्र दे रहे हों। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने तर्कपूर्ण ढंग से इन सम्भावनाओं का विश्लेषण किया है।²

प्रथम यह सम्भावना हो सकती है कि अंग्रेजों ने मुगलों को शासन से अपदस्थ किया था। अतः वामपंथी लेखकों ने मुगल-शासकों को 'देशभक्त' समझा हो। परन्तु यह तर्क कुतर्क होगा। ब्रिटिश इतिहासकारों तथा प्रशासकों ने माना है कि अंग्रेजों ने भारतीय-राजसत्ता मुगलों से नहीं, बल्कि मरहटों तथा सिखों से छीनी थी।³ मुगल तो केवल नाममात्र के शासक थे। मुगलों के अन्तिम शासक बहादुरशाह ज़फ़र का राज्य केवल दिल्ली के लाल क़िले तक सीमित था।

दूसरा तर्क यह हो सकता है कि मुगल-शासकों का शासन दिल्ली-सल्तनत के पठानों की तुलना में बेहतर था। सम्भवतः इसलिए उन्होंने मुगलों के शासन को 'शानदार' तथा शासकों को 'महान्' कहा हो। परन्तु इसमें भी उनकी निष्पक्षता सिद्ध नहीं होती और न ही कोई चिन्तन का आधार। कोई

1. इस सन्दर्भ में वामपंथी-चिन्तन की दिशा को समझने के लिए देखें, रोमिला थापर, हरबन्स मुखिया तथा बिपिन चन्द्र, *कम्युनिलिज़्म एण्ड द राइटिंग ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री* (नयी दिल्ली, 1977), पृ. 58-60
2. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *मुगल एम्पायर* (1526-1803 ई.) (दिल्ली, 1952), पृ. 545-546
3. डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर, *ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन पीपुल्स* (लन्दन, 1895 सं.), पृ. 154

भी यह कह सकता है कि ब्रिटिश शासन मुगलों से बेहतर था।

तीसरे, अकबर के अपने शासनकाल में कुछ सामाजिक, आर्थिक सुधार किए गए थे, परन्तु इस आधार पर तो उसे राष्ट्रीय राज्य नहीं कहा जा सकता।

चौथे, यह भी कि आधुनिक मुस्लिम-इतिहासकारों ने एक वर्ग के रूप में मुगल-साम्राज्य की सफलताओं को, सत्य को छिपाते हुए, बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया है। उन्होंने मुगलों की असफलताओं या कमियों को या तो छिपाया, या भुला दिया है।

इतिहास के निष्पक्ष विवेचना करते समय भारतीय-राष्ट्रीयता के आधारभूत तत्त्वों को नहीं भूलना चाहिये। भारतीय-चिन्तन में सत्ता और राजसत्ता कभी भी राष्ट्र की आत्मा का स्थान ग्रहण न कर सकी। उनकी दृष्टि में राष्ट्र की आत्मा का स्थान धर्म तथा इसकी सांस्कृतिक मान्यताओं में निहित रहा है। मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति तथा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य ही राष्ट्रीयता को स्थायित्व व शाश्वतता प्रदान करता है। मातृभूमि के रक्षार्थ बलिदान को सर्वोपरि तथा ब्रह्मालोक की प्राप्ति बतलाया गया है। सांस्कृतिक मान्यताओं में धर्म के सन्दर्भ में व्यक्तिगत रूप से पूर्ण स्वतन्त्रता तथा दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता, उदारता तथा समरसता का भाव इसके विशेष गुण रहे हैं।

इस सन्दर्भ में मुगल-शासक मूलतः विदेशी थे। कालान्तर में न उनका भारतभूमि के प्रति कोई प्रेम था और न ही यहाँ के लोगों से। बाबर एक विदेशी धर्मांध लुटेरा था तथा वह सर्वदा हिंदुओं के लिए 'काफ़िर' शब्द का प्रयोग करता था। उससे तो भारत के मुसलमान भी घृणा करते थे। बाबर से अधिक योग्य तथा सम्माननीय हसन ख़ाँ मेवाती (मृत्यु : 15 मार्च, 1527) था जिसने स्वदेश-रक्षा के लिए राणा सांगा की सेना में भाग लिया। बाबर ने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिये। मेवाती ने अपने पुत्र नाहर ख़ाँ के बाबर द्वारा बन्धक बनाए जाने पर भी स्वदेश-भक्ति न छोड़ी। वह बाबर के विरुद्ध लड़ता-लड़ता युद्ध में मारा गया। अतः राष्ट्रभक्ति में बाबर राणा सांगा तथा हसन ख़ाँ मेवाती का पासंग भी न था।

बाबर की भाँति अफ़ीमची हुमायूँ को भी बाबर की तरह भारत से कोई लगाव न था। पहले ही बताया गया कि अकबर में भी भारतीय-रक्त की एक बूँद भी न थी। उसका लगाव तो स्वयं में भी कन्धार जीतने का रहता था तथा वह अपने पूर्वजों की भूमि समरकन्द का स्मरण करता था। उससे कई गुणा राष्ट्रभक्त

अब्दुल रहीम खान-ए-खाना (1556-1627) तथा भक्त रसखान थे। अकबर स्वयं पैगंबर तथा विश्व-सम्राट् बनना चाहता था। उसकी इबादतखाने की स्थापना, सुलह-ए-कुल की नीति, मज़हर की घोषणा, तारीख-ए-इलाही (ईश्वर का कैलेण्डर) लागू करना तथा दीन-ए-इलाही की स्थापना किसी भी भाँति उदारवादी कृत्य न थे, जैसा कि कुछ सेकुलरवादियों ने उन्हें इस आधार पर महान् बना दिया। बल्कि धर्म का राजनीति के लिए उसने इसका दुरुपयोग किया था। दीन-ए-इलाही उसका राजनैतिक स्टंट था। यही अवस्था जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब की थी। मुग़लों का राज्य वास्तव में एक मज़हबी राज्य था। हिंदुओं को दूसरे श्रेणी का नागरिक समझा जाता था।

विचारणीय विषय है कि भारतीय-राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व कौन करता है? साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षी अकबर या देशाभिमान पर बलिदान होने वाली दुर्गावती, भारतीय-स्वतन्त्रता के लिए मर मिटनेवाले हेमचन्द्र विक्रमादित्य अथवा जंगलों में भटकनेवाले महाराणा प्रताप? यदि महाराणा प्रताप (1572-1597) के संघर्षमय जीवन को लें, विदेशी शासन की स्थापना के पश्चात् पचास वर्षों में उसका यह पहला मुग़लों के विरुद्ध संघर्ष था, जिसमें मुग़लों की अजेय सेना को समूल नष्ट कर दिया था। हल्दीघाटी के महान् संघर्ष (18 जून, 1576) ने हिंदू-समाज में नवचेतना, आत्मविश्वास तथा विजिगीषु-वृत्ति को जगाया। वामपंथी-इतिहासकारों ने महाराणा प्रताप को केवल दिल्ली के सम्राट् के सन्दर्भ में ही देखने का प्रयत्न किया तथा राणा प्रताप मेवाड़ के राजाओं की शृंखला की एक कड़ी मात्र माना। इन वामपंथी इतिहासकारों ने महाराणा प्रताप को एक छोटे-से राज्य के लिए संघर्षशील अर्थात् संकीर्ण हिंदू-राष्ट्रीयता का प्रतीक तथा एक संस्कृति का उन्नायक तथा आधुनिकता का प्रतीक माना जो सर्वथा अतार्किक व अप्रमाणिक है। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन भारत की किसी भाषाओं में किसी भी लेखक ने अकबर की प्रशंसा में एक भी काव्य छोड़, वाक्य भी नहीं लिखा। कुम्भनदास (1468-1583), तुलसीदास (1497-1523), रहीम, यहाँ तक कि तत्कालीन कवि आदा ने भी उसकी कटु आलोचना की तथा महाराणा प्रताप की बड़ी प्रशंसा की है।

वस्तुतः किसी शासक का मूल्यांकन विद्वानों ने राष्ट्र जीवन-मूल्यों के लिए किए गए प्रयत्नों के रूप में आँका जाना चाहिए। कोलोनल टॉड का यह कथन अकाट्य है कि, 'अरावली पर्वत-शृंखलाओं का कोई भी पथ ऐसा नहीं है

जो प्रताप के किसी कार्य से पवित्र न हुआ हो, किसी भी शानदार विजय अथवा उससे भी शानदार पराजय से। हल्दी (घाटी) मेवाड़ की थर्मोपली है तथा दिवेर का मैदान उसकी मैराथन है।' आगामी भारत के इतिहास में महाराणा प्रताप हमेशा प्रेरक रहे, पर अकबर नहीं। शचीन्द्रनाथ सान्याल (1893-1943)¹ की क्रान्तिकारी-समिति का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं हो सकता था जिसने चित्तौड़ के 'विजय स्तम्भ' के नीचे शपथ न ली हो। चित्तौड़ की तीर्थयात्रा और हल्दीघाटी का तिलक लगाना अनिवार्य हो गया था। वस्तुतः अंग्रेज़ों के शासनकाल में दासता से मुक्ति दिलाने में प्रताप के नाम ने जादू का काम किया था। दिनांक 09 नवम्बर, 1913 ई. को अपनी पत्रिका 'प्रताप' के प्रथम अंक को समर्पित करते हुए प्रसिद्ध राष्ट्रवादी गणेश शंकर विद्यार्थी (1880-1931)² ने लिखा था, 'संसार के किसी भी देश में तू (प्रताप) होता तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्यौछावर करते। (यदि तू) अमेरिका में होता तो वाशिंगटन या नेलसन को तेरे आगे झुकना पड़ता। फ्रांस में जॉन ऑफ़ आर्क तेरी टक्कर में गिनी जाती और इटली तुझे मैजिनी के मुकाबले रखता।' एक विद्वान् ने प्रताप को अकबर के विरुद्ध 'भारत की प्रधान तात्त्विक भावना का प्रतीक' माना है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में कभी भी अकबर की जय नहीं बोली गई जबकि महाराणा प्रताप सदैव प्रेरणा तथा क्रान्ति का प्रतीक रहे।

राष्ट्रीयता के प्रेरक-पुरुषों में यही बात शिवाजी के बारे में मानी जाती है। जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901) ने शिवाजी को एक महान् संघर्ष तथा तपस्या का परिणाम बताया है। वामपंथी-इतिहासकार शिवाजी को भी औरंगज़ेब की तुलना में राष्ट्रीय मानने को तैयार नहीं हैं। उनके महासंघर्ष को देश के साथ जोड़ने से उन्हें लज्जा आती है, बल्कि इस सन्दर्भ में वे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848-1923), जस्टिस रानाडे, पृ. मदनमोहन मालवीय, आरु सी. दत्त (1848-1909) व लोकमान्य तिलक को भी नहीं बख़्शते।³ वास्तव में इन सभी विद्वानों ने राणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरु गोविन्द को राष्ट्रीय महान् पुरुष माना

1. सज्जन सिंह राणावत, 'इतिहास में प्रताप का स्थान : प्रताप एक आदर्श', *राजस्थान की गौरवशाली परम्परा* (बाबा साहेब आपटे जन्म जन्म-शताब्दी समारोह, उदयपुर, 2003-04), पृ. 92
2. वही, पृ. 92-93
3. रोमिला थापर, *हरबन्स मुखिया व बिपिन चन्द्र, पूर्वोद्धृत*, पृ. 58

है। यदुनाथ सरकार ने लिखा, 'शिवाजी-जैसा सच्चा नेता सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक अद्वितीय देन है।'¹

यह सर्वविदित है कि शिवाजी द्वारा हिंदवी स्वराज्य की स्थापना का लक्ष्य औरंगजेब-जैसे 'जार' से भिन्न था। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन कोई व्यक्तिगत आन्दोलन नहीं था बल्कि एक देशव्यापी आन्दोलन था। इसका लक्ष्य था हिंदुत्व की रक्षा तथा भारतभूमि से विदेशी साम्राज्य को नष्ट करके एक विशाल हिंदू-साम्राज्य की स्थापना करना। यह लिखना अनुचित न होगा कि, न केवल मुगलों ने बल्कि तत्कालीन सभी शक्तियों ने उनका लोहा माना था। ऐसी परिस्थिति में हर समय घड़े की पीठ पर रहनेवाले शिवाजी की तुलना पालकी में बैठकर युद्ध करनेवाले औरंगजेब से करना किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं है। भारत के किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन में, किसी भी राष्ट्रीय स्मृति, किसी भी जुलूस, किसी भी राष्ट्र-जागरण में कहीं भी कोई औरंगजेब की जय-जयकार करता नहीं दिखलाई देगा। इसके विपरीत शिवाजी महाराज के जयघोष के बिना कोई राष्ट्रीय संघर्ष पूरा नहीं होता।

इसी भाँति गुरु गोविन्द सिंह का व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व भारतीय-इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। गुरु गोविन्द सिंह समस्त समाज को बिना किसी भेद-भाव के, भयमुक्त तथा निस्वार्थ भावना से ओतप्रोत किया। उनका औरंगजेब के नाम विजय-पत्र (*ज़फ़रनामा*) उनकी वीरता, धीरता तथा श्रेष्ठता का द्योतक है। गुरु गोविन्द सिंह के संघर्ष कोई व्यक्तिगत प्रतिष्ठा या भूमि के विस्तार के लिए न थे बल्कि स्वदेश की रक्षा तथा स्वधर्म की स्वतन्त्रता के लिए थे। उन्होंने खालसा-पंथ की स्थापनाकर सम्पूर्ण राष्ट्र को नवजीवन तथा संजीवनी बूटी दी। उनके नेतृत्व में 14 लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं।

अतः निष्कर्ष में यह सत्य है कि मुगल-शासक विदेशी, आक्रमणकारी, साम्राज्यवादी तथा धर्मांध थे। उन्हें न भारतभूमि से कोई लगाव था और न ही भारतीयों से। इन अभारतीय आक्रमणकारी शासकों को राष्ट्रीयता की गरिमा से मण्डित करना सर्वथा अनुचित तथा देशघातक है। इसके विपरीत शिवाजी तथा गुरु गोविन्द सिंह-जैसे राष्ट्रभक्तों तथा महाबलिदानियों पर प्रत्येक भारतीय को गर्व करना चाहिये।

1. यदुनाथ सरकार, *शिवाजी एण्ड हिज़ टाइम्स*, पृ. 450

अध्याय-चार

भक्ति-आन्दोलन : एक महान् राष्ट्रशक्ति का जागरण

मध्ययुगीन भारत में भक्ति-आन्दोलन भक्ति और शक्ति का एक अद्भुत समन्वय था। यह हृदय में ईश्वर-भक्ति तथा मन में राष्ट्रप्रेम जगाने का एक अत्यन्त श्रेष्ठ प्रयास था। यह वह काल था जब इस देश का हिंदू समाज मुस्लिम-आक्रांताओं के अत्याचारों से ग्रसित था। जनसंहार इतनी मात्रा में था जो हिंदू-समाज की जनसंख्या को अत्यधिक प्रभावित कर रहा था। अनेक हिंदू-मन्दिरों तथा अन्य श्रद्धा-केन्द्रों को ध्वस्त किया जा रहा था। समस्त हिंदू-समाज को द्वितीय या तृतीय श्रेणी का नागरिक माना जाता था। वस्तुतः मुस्लिम-आक्रमणकारियों तथा शासकों का उद्देश्य भारत-जैसे देश को दार-उल्-हरब से दार-उल्-इस्लाम बनाना था। अतः दो मार्ग ही थे— इस्लाम अपनाओ अथवा मृत्यु के लिए तत्पर हो जाओ। शरियत के चारों प्रमुख चिन्तकों में सिर्फ अबू हनीफ (699-767 ई.) ने मूर्तिपूजकों के लिए अथवा काफ़िरों के लिए एक अन्य रास्ता भी छोड़ा था कि वे 'ज़िम्मी' बन जाएँ तथा जज़िया दें।¹

ऐसे भय और निराशा के वातावरण में भक्ति-आन्दोलन की सतत धारा हिंदू-समाज में निरन्तर विश्वास, आस्था के साथ आशामय वातावरण बनाती रही। उसने हिंदुओं में आत्म विश्वास जगाया, जीने की आशा जगाई तथा भविष्य का मार्ग सुझाया। अतीत के प्रति आस्था जागृत की तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की रक्षा के लिए प्रेरित किया। भारतीय-जीवन में आध्यात्मिकता तथा धर्म-रक्षा की भावना जागी। इसका प्रकटीकरण समय-समय पर

1. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *मध्यकालीन भारतीय-संस्कृति*, पृ. 4-5

भक्ति-आन्दोलन के रूप में विकसित तथा प्रसारित हुआ।

यह सोचना नितांत भ्रामक तथा तथ्यरहित होगा कि भक्ति-आन्दोलन कोई साझा आन्दोलन या हिंदू-मुस्लिम के सम्मिलित प्रयत्नों का प्रतिफल था। यद्यपि इस्लाम से अत्यधिक प्रभावित कुछ इतिहासकारों ने इसे इस्लाम की देन¹ बतलाया है। कुछ ईसाई-विचारकों² ने इसे ईसाइयत की देन भी लिखा है। परन्तु उपर्युक्त कथन अर्थहीन, तर्कहीन तथा व्यक्तिगत मानसिकता को दर्शाते हैं न कि सामूहिकता तथा ऐतिहासिकता के बोध का। भक्ति-आन्दोलन विशुद्ध रूप से एक महान् राष्ट्रीय आन्दोलन रहा जिसका उद्देश्य निराश हिंदू-समाज में आशा का संचार तथा जागरण था। अपवाद रूप में इससे यदा-कदा कुछ भारतीय-मुस्लिम भी प्रभावित अवश्य हुए। यह भारत तथा भारतीयों की सुरक्षा के लिए था।³ यह भी सोचना उचित न होगा कि भक्ति-आन्दोलन केवल भक्तों का आन्दोलन था बल्कि यह हिंदू-आचार्यों, सन्तों, भक्तों, गुरुओं, सुधारकों, लेखकों की सामाजिक-धार्मिक चेतना का स्वर था जो समस्त मुस्लिम-शासकों के काल में किसी-न-किसी स्थान अथवा प्रदेश में गुञ्जित होता रहा।

इस्लाम से पूर्व भारत में भक्ति की धारा

यह सर्वज्ञात है कि भक्ति का जन्म तथा विकास भारत की प्राचीन परम्पराओं में ही निहित है। अनेक देश-विदेश के विद्वानों ने इसका वर्णन किया है। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्निनकोल ने लिखा है, 'यह हिंदू-धर्म की आत्मा के द्वारा किया हुआ वह प्रयत्न कहा जा सकता है जिसके द्वारा उसने अन्धविश्वासों में जकड़ी हुई जाति को जगाने का प्रयत्न किया और वह जाति अपनी गहरी नींद से अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी हुई तथा उसने भक्ति के प्रकाश द्वारा अपने को मुक्त अनुभव किया।' इसी भाँति एक अन्य स्थान पर उसने लिखा, 'भक्ति-आन्दोलन की जड़ें बहुत पुरानी हैं और इस्लाम ने केवल इसकी प्रगति को भारत के कुछ भागों में तीव्र करने में सहायता मात्र की।'।

भारत में भक्ति की परम्परा न इस्लाम की देन है और न ही उनके अत्याचारों का परिणाम। बल्कि इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। वैदिक साहित्य भक्ति

का अक्षय भण्डार है। अकेले ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुतियाँ हैं। उपनिषदों में चिन्तन की प्रधानता है। भागवत धर्म की तभी स्थापना हुई। गीता में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म— ये तीन मार्ग बतलाए गए हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि भक्ति की भावना उत्तर से अधिक दक्षिण भारत में तीव्रता से विकसित हुई। उदाहरण के लिए सैकड़ों वर्ष पहले दक्षिण में आलवार-भक्त हुए।¹ वे आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत थे। उनमें 12 आलवार-भक्त बहुत प्रसिद्ध हुए। ये सभी विष्णु के असीम भक्त थे। यद्यपि इनका कालखण्ड बताना कठिन है। परन्तु इनमें अत्यधिक प्राचीन चार ऋषि माने जाते हैं। ये हैं— 1. पोडगई आलवार, 2. भूथाथालवार, 3. पेयालवार और 4. तिरुमल्लिशै आलवार। इनमें पोडगई काञ्चीपुरम् के निकट 'तिरुवेक्का' नामक स्थान में जन्मे थे। पोडगई का अर्थ है तालाब। कमल-पुष्पों के तालाब के निकट जन्मे होने के कारण इनका यह नाम पड़ा। ये विष्णु के परम भक्त थे। इन्होंने एक पुस्तक *मुदई तिरुवन्दादि* लिखी जिसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। भूथाथालवार तिरुकडलमल्लै (वर्तमान महाबलीपुरम् ज़िले में) में जन्मे। इन्होंने भी भगवान् विष्णु पर एक पुस्तक लिखी। पेयालवार मयिलापुर में जन्मे। भक्ति करते-करते ये अत्यधिक भाव-विह्वल हो जाते थे। अतः इन्हें मतिभ्रष्ट (मूढ़) कहा जाता और 'पेय' पुकारा जाता। चौथे थे— तिरुमल्लिशै आलवार। इनकी दो रचनाएँ— 1. *तिरुच्चन्द-विरुत्तम्* और 2. *नानमुगन् तिरुवन्दादि* हैं जो प्रसिद्ध हैं।

अन्य 8 आलवार संत इनके बाद के माने जाते हैं। इनके नाम हैं— 1. नम्मालवार, 2. मधुरकवि आलवार, 3. कुलशेखर आलवार, 4. पेरियालवार, 5. अन्दाल, 6. तोण्डारडिप्पोडी आलवार, 7. तिरुप्पान आलवार एवं 8. तिरुमंगई आलवार। इसमें नम्मालवार का नाम सर्वोपरि है। ये एक अब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। इनके ग्रन्थों में राम व कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। दूसरे आलवार को तमिल-भाषा में मधुर पदों की रचना करने के कारण 'मधुर कवि' कहा गया। इनका जन्म तिरुकोल्लूर में हुआ था। इन्होंने भारत के तीर्थ-स्थलों की यात्रा की तथा ये नम्मालवार को अपना गुरु

1. देखें, डॉ. ताराचन्द, *इन्फुलेन्स ऑफ़ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर* (इलाहाबाद, 1946)

2. जॉर्ज ग्रियर्सन, *मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान* (कोलकाता, 1889)

3. डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा, *ग्लिम्पसेस ऑफ़ भारतीय हिस्ट्री* (दिल्ली, 2003), पृ. 235

1. विस्तार के लिए देखें आरु सी. मजूमदार (संपादित), *द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ़ द इण्डियन पिपुल*, भाग-3 (मुम्बई) पृ. 327-333; डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा, *पूर्वोद्धृत*, पृ. 235; आचार्य सोहनलाल रामरंग, *भारतभूमि का जाट* (दिल्ली, 2006), पृ. 27-30

मानते थे। कुलशेखर आलवार (शासनकाल : 800-820) का जन्म चेर-सम्राट् दृढव्रत के घर हुआ था। राम के अनन्य भक्त थे। तमिल तथा संस्कृत-भाषाओं में कई रचनाएँ, जो *पेरुमाल तिरुमोलि* तथा *मुकुन्दमाला* के नाम से प्रसिद्ध हैं। पैरियालवार का जन्म विष्णुहरि के परम भक्त मुकुन्द पट्टर के घर हुआ था। इन्होंने तत्कालीन पाण्ड्य राजा वल्लभदेव की सभा में अपनी विद्वत्ता के कारण पट्टरपिरान (ब्राह्मण श्रेष्ठ) की उपाधि प्राप्त की थी। इन्होंने सूरदास की भाँति कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया। इन्हें पैरिय (महान्) आलवार कहा जाता है। अन्दाल का जन्म सन् 713 ई. में बिल्लपुत्तूर में हुआ था। ये गोपिका की भाँति भगवान् की भक्ति करती थी। एक विद्वान् का मत है कि उत्तर भारत में जो स्थान मीरा का है, दक्षिण भारत में वही स्थान भक्तिमती अन्दाल का है।¹

कालान्तर में तिरुमंगई आलवार, तिरुप्पान आलवार, तोण्डारडिप्पोडि अलवार हुए। तिरुमंगई आलवार कुरैयलूर नामक स्थान पर कल्लर जाति में पैदा हुए थे। तमिल, संस्कृत भाषाओं में निपुणता के साथ युद्धकला में भी निष्णात थे। इन्होंने तमिल भाषा में छः ग्रन्थ लिखे जो तमिल वेदांग अथवा अंग कहे जाते हैं। ये परम वैष्णव-भक्त तथा वैष्णव-दर्शन के ज्ञाता थे। तोण्डारडिप्पोडि का जन्म तिरु मण्डगुडि नामक स्थान पर हुआ। ये श्रीहरि विष्णु के भक्त थे। कई ग्रन्थ लिखे। तोण्डर (भक्त) के तिरुवडिपोडि (चरण धूलि) को धारण करने के कारण इन्हें उक्त नाम से पुकारा गया।

इस प्रकार दक्षिण में वैष्णव-भक्त द्वादश आलवार माने जाते हैं। इनका जीवनकाल यद्यपि निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु सामान्यतः 7वीं से 9वीं शताब्दी के मध्य का माना जाता है। ये सभी भक्त विभिन्न जातियों तथा समाज के विभिन्न स्तरों के थे परन्तु प्रभु-भक्ति में अग्रणी थे।

इसी भाँति तमिल-सन्तों तथा भक्तों में नायनमार अथवा नयनार शैवमत के उपासक थे। ये भी विभिन्न जातियों के थे। इनकी संख्या 63 है। इनमें अप्पार (600-681 ई.) साम्बान्दर अथवा संबंध स्वामी (644-660 ई.) तथा मानिकवाचकर (660-692 ई.) अथवा 9वीं शताब्दी) तथा सुन्दरमूर्ति (710-735 ई.) प्रसिद्ध हैं। संक्षेप में इस्लाम से पूर्व दक्षिण भारत में आलवार तथा नायनमार अर्थात् वैष्णव तथा शैव मत था। शैवमत से भी तमिलनाडु में एक नवचेतना

आयी। परिणामस्वरूप पाण्ड्य तथा चोल-शासकों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण किया तथा ये मन्दिर समाज की अनेक गतिविधियों, यथा— शिक्षा, सेवा, सुरक्षा, न्याय, प्राकृतिक प्रकोप से रक्षा आदि के केन्द्र बन गये। *रामायण* तथा *भगवद्गीता* ने सम्पूर्ण दक्षिण भारत के नवयुवकों में चेतना तथा सांस्कृतिक वातावरण जगाया तथा भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं को उद्दीप्त किया।

उत्तर भारत में भी भक्ति की लहर की परम्परा नयी न थी। डौं दीनेशचन्द्र सेन ने इसका विस्तृत विचार तथा विश्लेषण किया है। ऋग्वेद में देवों की स्तुतियों का वर्णन है जिसमें दास्य भाव से भक्ति की गई है। उत्तर भारत में रचा वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य इस भक्ति की धारा से परिपूर्ण है। छठी शताब्दी ई. पू. पश्चिमोत्तर भारत से सतत विदेशी आक्रमणों के पश्चात् भी भक्ति की यह धारा अविरल रूप से बहती रही। यूनानी-राजदूत मेगास्थनीज (350-290 ई. पू.) ने भी यवनों द्वारा हरिकृष्ण पूजा का वर्णन किया है। पुष्यमित्र शुंग के काल में भक्ति का प्रचार हुआ। भक्ति के कारण ही कनिष्क के काल में बौद्ध-धर्म दो भागों में विभक्त हो गया। महायान भक्ति का द्योतक बना। गुप्त-शासकों ने भक्ति को महत्त्व दिया। अतः भक्ति की धारा कोई नवीन बात न थी। यह भारत की प्राचीन परम्पराओं के अनुरूप थी।

डौं ताराचन्द ने लिखा है, 'इस्लाम के आगमन से पूर्व भारत में एकेश्वरवाद था ही नहीं और शंकर-जैसे आचार्य की शिक्षा पर भी इस्लाम का प्रभाव पड़ा था।'¹ यह कथन प्रमाणों के आधार पर सत्य नहीं है। वस्तुतः नवीन खोजों के आधार पर आद्य शंकराचार्य के जीवनकाल के बारे में अनेक भ्रांतियाँ फैलाई गई थीं। ब्रिटिश विद्वान् ए. बी. कीथ (1879-1944) ने अपने ग्रन्थ में सम्भावना व्यक्त की है कि 'आद्य शंकर का जन्म 788 ई. में हो सकता है और सम्भवतः उनका निधन 820 ई. में हो गया या वे संन्यासी हो गये'। ब्रिटिश विद्वान् की इस सम्भावना को कुछ विद्वानों ने सही मान लिया। इसका शिकार इस्लाम-भक्त भारतीय-इतिहासकार ताराचन्द भी हुए। नवीनतम खोज के आधार पर युगप्रवर्तक, अद्वैत दर्शन के महान् उन्नायक तथा भारतीय-राष्ट्रीय एकता के महान् पोषक शंकराचार्य का जन्म 509 ई. पू. में तथा देहावसान 477 ई. पू. में

1. आचार्य सोहनलाल रामरंग, पूर्वोद्धृत, पृ. 26

1. डौं ताराचन्द, पूर्वोद्धृत

2. ए. बी. कीथ, *हिस्ट्री ऑफ़ द संस्कृत लिटरेचर*, पृ. 476

हुआ था अर्थात् वह केवल 32 वर्ष जीवित रहे। इस कथन का विस्तृत प्रमाण शंकराचार्य के मठों से प्राप्त आचार्यों की क्रमबद्ध नामावली तथा उसकी अवधि, जैन तथा बौद्ध-साहित्य तथा समय-समय पर आचार्यों के ग्रन्थ हैं।¹ शंकराचार्य ने पाँच मठों अथवा पीठों— 1. ज्योतिर्मठ (बद्रीकाश्रम), 2. शारदापीठ (द्वारका), 3. शृंगेरी मठ (कर्नाटक), 4. गोवर्धन मठ (पुरी) तथा 5. काञ्ची कामकोटि मठ (काञ्ची) की स्थापना की थी। अनेक आधुनिक विद्वान् भी उनकी जन्मतिथि 509 ई पू ही मानते हैं।² प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. दिनेश चन्द्र का यह कथन सत्य है, 'हिंदू-प्रचारक ने मुसलमानों के आगमन के बहुत पूर्व में एक ब्रह्म के अनेक स्वरूपों की विवेचना करते हुए परब्रह्म के ज्ञान का उपदेश दिया था। किन्तु मुस्लिम-सम्पर्क के कारण इस भावना को प्रोत्साहन मिला और उसका प्रभाव नामदेव, रामानन्द, कबीर तथा नानक की शिक्षाओं में परिलक्षित होता है, जिससे कि हमें हिंदू तथा मुस्लिम-विचारधारा का प्रभाव प्रतीत होता है।'³

आद्य शंकराचार्य की तिथि के बारे में भले ही कोई विवाद हो, परन्तु यह नितांत सत्य है कि उन्होंने भारत के चार कोनों में पाँच मठों की स्थापना करके भारत की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता स्थापित की। उन्होंने 'अपनी प्रकाण्ड प्रखर प्रतिभा से युग के सारे विवादों को समेट समाज को वेदांत की पृष्ठभूमि पर समन्वित किया। उनके वर्चस्व से भारत के तीर्थ स्थान, पहाड़, नदियाँ, शहर, गाँव— सब 'एक ब्रह्म—एक सत्य' की अखण्ड एकता में बंध गए, जिसने न केवल हमें बौद्ध-धर्म के त्रास से उबारा वरन् मुगल, ईसाई-साम्राज्यों के थपेड़ों को सहन करने का सामर्थ्य दे हमारी पहचान को सुरक्षित रखा।'⁴ आद्य शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी (11 उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता) पर टीकाएँ लिख राष्ट्र की एकता को दिशा दी। उन्होंने हमें पूर्ण स्वराज्य की संकल्पना दी। उन्होंने कहा था अखण्डता केवल राजनीति द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि भाषा, धर्म,

1. देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, 'शंकराचार्य की ऐतिहासिकता', *पाञ्चजन्य*, 13 दिसम्बर, 2009
2. परमेश्वरनाथ मिश्र, *अमिट कालरेखा सौरभ : भगवत्पाद भाष्यकार आद्य शंकराचार्य का आविर्भाव-काल* (पटना, 2000); उदयवीर शास्त्री, *ऐज़ ऑफ़ शंकर*, 1981; पी. एन. ओक, *सम ब्लंडर्स ऑफ़ इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च*, 1984, पृ. 211-225; के. वी. राव, *द डेट ऑफ़ शंकर*, *द आर्गनाईज़र*, 26 जून 1988; एक लेखक ने अपने निष्कर्षों के आधार पर यह पहली शताब्दी ई पू के लगभग मानी है— देखें, एन. रामेशम, *डेट ऑफ़ शंकर*, *भवन्स जर्नल*, 29 अप्रैल, 1962, पृ. 52-56; ज्योतिर्मय शंकराचार्य की ऐतिहासिकता, *जनसत्ता*, 05 फरवरी, 1991

प्रांत-भेद राजनीति के आश्रय में फलते-फूलते हैं।

मध्यकाल में भक्ति-आन्दोलन

भक्ति-आन्दोलन भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता, दर्शन तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों पर आधारित नवजागरण था। सार रूप में इसका वैशिष्ट्य निर्जीव कर्मकाण्डों, पूजापाठों तथा व्रतों का विरोधी था। यह जातिप्रथा की जटिलताओं की भर्त्सना करता है। बाहरी दिखावों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन करता है। इसके विपरीत यह एकेश्वरवाद अथवा अद्वैत समाज में सांस्कृतिक समरसता तथा गुरु की महत्ता को दर्शाता है।

भक्ति आन्दोलन एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन था। सम्भवतः इसके जैसी व्यापकता, निरन्तरता, इससे पूर्व भारत के किसी भी आन्दोलन में दृष्टिगोचर नहीं होती। मध्यकाल में मुस्लिम-अत्याचारों तथा बलात् धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया ने इसे अधिक तीव्र तथा दृढ़ किया।

जगद्गुरु शंकराचार्य के बाद दक्षिण भारत महान् आचार्यों की जन्मभूमि रहा। जिस भाँति आद्य शंकराचार्य अद्वैत सम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं, वैसे ही जगद्गुरु रामानुजाचार्य (1017-1137 ई.) विशिष्टाद्वैत के श्रीसम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनका जन्म काञ्चीपुरम के निकट श्रीपेरुपुथुर में हुआ। इनकी वैदिक शिक्षा काञ्ची के प्रसिद्ध यादव प्रकाश ने दी। छोटी आयु में इनकी प्रसिद्धि हो गई थी। रंगमठ के पीठासीन यामुनाचार्य जी (917-1042) इनसे प्रभावित हुए थे तथा इनको बुलाने के लिए अपने शिष्य को भेजा, पर इनके पहुँचने से पूर्व यामुनाचार्य जी का देहान्त हो गया था। उन्हें जानकारी मिली कि यामुनाचार्य जी की तीन इच्छाएँ थीं। ये थीं— *ब्रह्मसूत्र*, *विष्णुसहस्रनाम* तथा आलवन्दारों के '*दिव्य प्रबन्धन*' की टीका। ये तीनों इच्छाएँ पूर्ण की गयीं। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रथम महान् प्रतिपादक के रूप में इन्होंने माना कि जीवात्मा परमात्मा से एकाकार है परन्तु उसका पृथक् अस्तित्व भी है। इस प्रकार परमात्मा तथा जीवात्मा एक भी है और उनमें अलगाव भी है। इसे ही विशिष्टाद्वैतवाद कहा गया। उन्होंने समस्त जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति माना। उनके विचारों का तेजी से प्रसार हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की तीर्थयात्रा की थी। उनके पश्चात् उनका विचार एक सतत महान् परम्परा की भाँति आगे बढ़ता गया। उन्होंने गौरवमय अतीत के दर्शन को बतलाते हुए जनमानस में भक्तिभाव

के साथ आत्मविश्वास पैदा किया।

द्वैताद्वैतदर्शन के महान् व्याख्याता श्री निम्बार्काचार्य का जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी तट पर वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में हुआ। इनके पिता अरुण मुनि तथा माता का नाम जयन्ती देवी था। इनके बचपन का नाम नियमानन्द था। बाद में ये आचार्य निम्बार्क के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके तिथि के बारे में कई मत हैं परन्तु यह सामान्यतः विद्वानों ने इन्हें 12वीं शताब्दी का माना है। आचार्य निम्बार्क ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, परन्तु आज वेदांत-सूत्रों पर भाष्य 'वेदांतपारिजातसौरभ' उपलब्ध है। आचार्य निम्बार्क के अनेक शिष्य थे जिनमें उनके शिष्य केशव भट्ट के अनुयायी विरक्त होते थे तथा हरिव्यास के अनुयायी गृहस्थ होते थे। इनके सम्प्रदाय में श्रीमद्भागवत को प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है तथा श्री राधाकृष्ण की पूजा होती है। इनके मत में ब्रह्म से जीव और जगत् पृथक् भी है और एक भी है। इनके तथा इनके शिष्यों के प्रभाव प्रचुर मात्रा में भक्ति-साहित्य का सृजन हुआ तथा देश के अनेक हिंदुओं को प्रेरित किया।

द्वैतवादी महान् चिन्तक मध्वाचार्य का जन्म सन् 1199 में दक्षिण कर्नाटक में उडुपी के निकट वेलिग्राम माना जाता है। इनके पिता नारायण भट्ट तथा माता का नाम वेदवती था। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अल्पायु में अद्वैत मत के संन्यासी आचार्य अच्युत प्रेक्षाचार्य से संन्यास की दीक्षा ली थी। प्रारम्भ में इनका नाम वासुदेव था और बाद में पूर्णप्रज्ञ हो गया। मध्व ने वेदांत का गम्भीर अध्ययन किया। इन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की तथा विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। इन्होंने अपने उपदेशों में भगवद्भक्ति का प्रचार, वेदों की प्रामाणिकता की स्थापना, मायावाद का खण्डन तथा मर्यादा का संरक्षण किया। इन्होंने अनेक भाष्य लिखे, अनेक मठ स्थापित किए तथा मन्दिरों का निर्माण कराया। उन्होंने उडुपी में भगवान् कृष्ण की मूर्ति प्रस्थापित की और तभी से यह उनके अनुयायियों का केन्द्र बन गया। उनकी यात्राओं, मन्दिरों की स्थापना तथा रचनाओं से लोगों में धर्म के प्रति आस्था, संस्कृत-साहित्य के प्रति सम्मान तथा अतीत के प्रति गौरव बढ़ा।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् 1479 ई. में चम्पारण्य (वर्तमान छत्तीसगढ़ प्रान्त में) में तथा गोलोकवास 1531 ई. माना जाता है। वे शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के संस्थापकाचार्य थे। 13 वर्ष की अल्पायु में

वे धर्मोपदेश के लिए निकल पड़े थे तथा स्थान-स्थान पर भगवद् कथाएँ सुनाते थे। विभिन्न मत-मतान्तरों से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर 31 वर्ष की आयु में इन्होंने वैष्णव मत का प्रतिपादन किया था। उन्होंने दिव्य गुणों से युक्त पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के ही परब्रह्म होने की पुष्टि करते हुए उनकी विविध लीलाओं का वर्णन किया। उन्होंने बतलाया कि श्रीकृष्ण ही देव हैं। उनका नाम ही मन्त्र है तथा उनकी सेवा ही एकमात्र कर्म है। उन्होंने कृष्ण-भक्ति का प्रसार करने के लिए सम्पूर्ण भारतवर्ष की तीन बार परिक्रमाएँ कीं। धर्म का प्रचार करते हुए ये विजयनगर भी गए, जहाँ विश्वप्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेवराय ने विराट् धर्म सम्मेलन आयोजित किया था। वहाँ शास्त्रार्थ द्वारा इन्होंने सभी मत-मतान्तरों के संतों एवं पण्डितों को सन्तुष्ट किया। सभी विद्वानों ने मिलकर आपका कनकाभिषेक किया जिसमें सौ मन सोना इन्हें दिया गया जो उन्होंने वहीं उसी समय दान कर दिया। सभी ने आपको 'वाचस्पति' स्वीकार किया तथा सर्वसम्मति से आपको 'अखण्ड भूण्डलाचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीमदाचार्य श्री महाप्रभु' की उपाधि से विभूषित किया गया। भारत की यात्रा करते हुए उन्होंने चौरासी बैठकें स्थापित कीं और चौरासी वैष्णव बनाये।

यह भी उल्लेखनीय है कि वल्लभाचार्य में प्रभुभक्ति के साथ देशभक्ति की भावना थी। उदाहरण के लिए मथुरा में विश्रामघाट पर किसी पीर ने एक मजबूत धागा बाँध दिया जो यमुना तट से दूसरी ओर तट तक था। एक दिन उसने फरमान दिया कि इस धागे के नीचे अथवा इस धागे से निकलकर प्रयाग तक की यमुना ही क्यों, अपितु गंगासागर तक जानेवाली गंगा में भी स्नान करेगा, तो वह मुसलमान; जिसने ऐसी किसी स्नान करनेवाले के यहाँ भोजन किया, वह मुसलमान और जिस-जिसने भी उनके यहाँ भोजन किया, वे सभी क्रमशः मुसलमान होंगे। पीर ने यह अल्लाह का फरमान बताया। सभी मथुरावासी परेशान हो, माध्वाचार्य के पास पहुँचे। उन्होंने सभी को यमुना तट पर कीर्तन करने को कहा। अगले दिन प्रातः ही नहाते हुए कहा, "जिन्होंने इस धागे के नीचे स्नान किया वे शुद्ध, जिन्होंने उनके यहाँ भोजन किया, वे निष्पाप, जिन्होंने उनके यहाँ किसी प्रकार का जल भी पिया, वे वैष्णव, श्री वैष्णव, परम वैष्णव! इस तरह की घटना ने हिंदू-समाज में आत्मविश्वास तथा स्वाभिमान को जाग्रत किया।

1. आचार्य सोहनलाल रामरंग, पूर्वोद्धृत, पृ. 252-253

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण के ब्रजक्षेत्र-स्थित गोवर्धन पर्वत पर अपनी गद्दी स्थापित की। श्रीनाथजी का दिव्य मन्दिर बनवाया। भक्त सूरदास (1478-1583), कुम्भनदास (1468-1583), परमानन्ददास (1493-1584) व कृष्णदास (1496-1579) इनके प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने 84 ग्रन्थों की रचना की। इनके देहावसान के पश्चात् इनके पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथ (1515-1585) गद्दी पर आसीन हुए।

उत्तर भारत में जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्य को मध्ययुगीन उदात्त चेतना के जन्मदाता, भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक तथा तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक चेतना का मार्गदर्शक माना जाता है। जहाँ रामान्दाचार्य अथवा रामानन्द ने समकालीन पीड़ित, उपेक्षित तथा नैराश्य से पूर्ण हिंदू-समाज को सांत्वना दी, चेतना जगाई, वहीं राष्ट्रीय जागरण किया, भारत की सांस्कृतिक जीवनधारा को अक्षुण्ण प्रवाहित करने में योगदान किया।

स्वामी रामानन्द का आविर्भाव 14वीं-15 शताब्दी (1299-1434) माना जाता है। इनका जन्म प्रयाग में हुआ। इनके पिता पुण्यसदन तथा माता सुशीला देवी थीं। अल्पायु में ही ये काशी चले आए थे तथा पंचगंगा घाट पर रहने लगे थे। इनके गुरु स्वामी राघवानन्द थे। इन्हें रामभक्ति गुरु-परम्परा से मिली। उन्होंने रामभक्ति को एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन का आधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण किया। उन्होंने इससे समाज में आशा, आत्मविश्वास तथा स्वाभिमान का भाव जाग्रत किया। उन्होंने भारतीय-समाज के अन्धविश्वासों तथा बाह्याडम्बरों से ऊपर उठकर प्रेम और भक्ति का मार्ग दिखलाया।¹ रामभक्ति के ही माध्यम से उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक समरसता तथा समन्वय की भावना पैदा करने का सफल प्रयास किया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर* में समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना पर प्रबल प्रहार किया।

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ रामानुज ने 11वीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति की उपासना का प्रचलन किया, वहीं 14वीं-15वीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामभक्ति के प्रसार का श्रेय श्री रामानन्द को है। इस काल में रामनन्दी सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रभावी बन गया।² एक विद्वान् के अनुसार पूर्णावतार का जो पद भगवान् कृष्ण

1. उमा पाण्डेय, *भारत का सांस्कृतिक केन्द्र वाराणसी* (दिल्ली, 1981), पृ. 61
2. विलियम जे. डायर, *भक्ति इन कबीर* (पटना, 1981), पृ. 113

को प्राप्त था, वही पद मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गया।³ स्वामी रामानन्द द्वारा रामभक्ति का प्रसार उत्तर-दक्षिण अर्थात् सम्पूर्ण देश की एकता को आबद्ध करने में सहायक हुआ। राम का नाम पूरे समाज को जोड़नेवाली महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गया। एक विद्वान् के अनुसार 'वे (रामानन्द) विभिन्न परिवेशों के बीच में एक सेतु की भूमिका का निर्वाह करते थे। वे नर और नारायण के बीच एक सेतु थे; शूद्र और ब्राह्मण के बीच एक सेतु थे; हिंदू और हिंदुत्व के बीच एक सेतु थे; देवभाषा (संस्कृत) और लोकभाषा (हिंदी) के बीच एक सेतु थे।'⁴ श्री रामानन्द की एक और महत्त्वपूर्ण देन है एक प्रभावी तथा अद्भुत शिष्य-परम्परा खड़ी करना। उनकी शिष्य-परम्परा में सर्वश्री कबीरदास (1398-1518), पीपाजी (1323-1383), रविदास (रैदास : 1376-1527), अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, धन्ना, सेन, गालवानन्द थे। उनकी प्रेरणा से जहाँ कबीर तथा अनेकानेक शिष्य रामानन्द जी की वाणी के सन्देशवाहक बने, वहीं दूसरी ओर रामभक्ति के महान् उपासक गोस्वामी तुलसीदास (1497-1623) उनके प्रचारक बने।

स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध बारह शिष्य⁵ उत्तर भारत के विभिन्न प्रांतों अथवा क्षेत्रों से थे। ये अधिकतर सामान्य तथा निम्न वर्ग के थे। इनमें से कुछ का वर्णन संक्षिप्त में जानना उपयोगी होगा। मध्ययुगीन सन्तों में संत कबीर का अनन्य स्थान है। नीरू और नीमा जुलाहे के परिवार में पले संत कबीर की ख्याति देशव्यापी थी। कबीर ने अपने गुरु रामानन्द से निर्गुण 'राम' तथा 'भक्ति' का रहस्य सीखा।⁶ यद्यपि राम की अवतारवाद की धारणा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया, तथापि ईश्वर को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया। इसके प्रमाण *श्री गुरुग्रन्थसाहिब* में संग्रहित उनके एक दोहे से ज्ञात होता है।⁷ इसमें कबीर ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा अदृश्य माना है। कबीर पर स्वामी रामानन्द का प्रभाव

1. डॉ. मुंशीराम शर्मा, *भक्ति का विकास* (वाराणसी, 1938), पृ. 352
2. डॉ. वंशीधर त्रिपाठी, 'राम के अनन्य भक्त स्वामी रामानन्द' *दैनिक जागरण*, 29 जनवरी, 2008
3. प्रमुख 12 शिष्यों के विस्तृत वर्णन के लिए देखें गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित '*कल्याण*' का *भक्ति-अंक* तथा *अवतार-कथांक* तथा *भक्तमाल*
4. विलियम जे. डायर, पूर्वोद्धृत, पृ. 14
5. *गुरुग्रन्थसाहिब* (अमृतसर), पृ. 1195

स्पष्ट करते हुए सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने 'भक्ति' के लिए अभय का पाठ रामानन्द से ही सीखा।¹ कबीर के सन्दर्भ में 'कबीर-ग्रन्थावली' में राम का नाम 217 बार आया है।² कबीर की भक्ति रामानन्द की भाँति जातिभेद अथवा वर्णभेद से ऊपर है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के निर्गुण राम कहकर अपनी भक्ति का विषय बनाया। कबीर का वैशिष्ट्य इस बात में ही कि 'धर्म के स्थान पर धार्मिकता-आध्यात्मिकता को बृहत्त कर सामाजिक आचरण से जोड़कर कबीर ने बहुत बड़ी नैतिक संहिता प्रस्तुत की है।'³ उन्होंने दीनों के हित में कुर्बान होने में मुक्ति की सीख— समानता, स्वतन्त्रता, निर्भयता, मानवीय सरोकार के सर्वोच्च मूल्यों की संस्थापना की जो आज के 'सेकुलर' युग में सम्भव नहीं है।⁴ कबीर की विद्रोही, 'क्रान्तिकारी धार सत्ता-व्यवस्था के द्वारा अपनाए गए जनविरोधी (जीवन, पर्यावरण-विरोधी भी), सभी व्यवहारों को काटता है। वे सभी प्रकार के अन्यायों, उत्पीड़नों के सामने झुकते नहीं, बल्कि चुनौती देते हैं।'⁵

सन्त कबीरदास समन्वय-भावना के पोषक थे। यद्यपि उन्होंने कभी भारतीय-संस्कृति को गंगा-जमुनी संस्कृति अथवा कम्पोज़िट कल्चर की वोटग्राही दृष्टि से कभी न देखा, परन्तु हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के बीच कटुता दूर करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया।⁶ मूर्तिपूजक न होते हुए भी कबीर ने सिकन्दर लोदी के मूर्तिभंजक कार्यों की कटु आलोचना की। इसकी सजा के रूप में उन्हें उफनती यमुना नदी में फेंक दिया गया था।⁷ एक लेखक का मत है कि 'इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि रामानन्द व कबीर अछूतों और हिंदू-समाज के उपेक्षितजनों में एक आशा और भरोसे की नींव न डालते तो उनमें से अधिकतर मुसलमान हो जाते।'⁸ निःसन्देह उस समय सिकन्दर लोदी-जैसे अत्याचारी तथा धर्मांध सुल्तान

1. वृ श्रीवास्तव, *रामानन्द सम्प्रदाय*, पृ 294
2. देखिये, परमानन्द तिवारी द्वारा संपादित *कबीर ग्रन्थावली* (इलाहाबाद, 1961)
3. डॉ बलदेव वंशी, कबीर और आध्यात्मिक वैश्वीकरण, *राष्ट्रीय सहारा*, 21 मार्च, 2001, पृ 9
4. वही
5. वही
6. डॉ दुर्गाशंकर मिश्र, कितने प्रासंगिक हैं कबीर ?, *राष्ट्रधर्म*, जून, 2003
7. वही
8. डॉ मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास* (मुम्बई, 1962), पृ 201

का विरोध करना' बड़े साहस का कार्य था जो कबीर-जैसा विलक्षण व्यक्तित्व ही कर सकता था। विभांशु दिव्याल¹ ने कबीर के बारे में सही कहा है कि 'छः शताब्दियाँ पार कर जाने के बाद जो व्यक्तित्व अपने मूल स्वरूप में सबसे अलग दिख रहा होगा, वह फकड़ कवि, निराले संत, अक्खड़ गुरु, अटपटे दार्शनिक, बेलाग वक्ता और विद्रोहियों के खरे दोस्त कबीर का होगा। जहाँ बहुत-से कवि, दार्शनिक, विचारक, सुधारक, रुढ़ होकर मिथक बन गए हैं और उनके कर्म किंवदन्तियों में ढल गए हैं, वहाँ कबीर नाम की यह शख्सियत वैसे ही प्रखर, वैसी ही प्रहारक और वैसे ही व्यंग्यमय बनी हुई है।'

संत कबीरदास की भाँति सन्त रविदास समाज तथा धर्म के व्यापक क्षेत्र में अहिंसक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता को अपना लक्ष्य बनाकर मुस्लिम-तुष्टिकरण के बजाय तुर्की तथा अफ़ग़ानी अत्याचारी शासकों द्वारा व्यापक स्तर पर बलपूर्वक धर्मांतरण के विरोध में अपमान सहकर हिंदू-धर्म की रक्षा कर हर कीमत पर उसे बनाए रखने का बीड़ा उठाया।

चवर वंश के क्षत्रिय कुल में उत्पन्न संत रविदास के दादा हरिनन्दन, पिता रघु जी तथा माता कमदेवी धार्मिक वृत्ति के थे। रविवार के दिन जन्म होने के कारण इनको रविदास कहते थे। इनका जन्म काशी के निकट माण्डूर ग्राम में हुआ तथा इनका शरीर चित्तौड़ में शान्त हुआ। चित्तौड़ की महारानी झाला रानी इनकी अपूर्व भक्त थीं तथा इनमें अपार श्रद्धा रखती थीं। ऐसा भी मत प्रचलित है कि भक्तिमति मीराबाई (1498-1557) भी इनसे मिलने गई थीं। ये रामानन्द के शिष्य तथा कबीरदास के समकालीन थे।

संत रविदास भारत में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों को जोड़नेवाली एक मज़बूत कड़ी थे। उनकी चेतना में सतनाम, सतगुरु तथा सत्संगति की प्रचुरता थी। वे सही अर्थों में एक प्रभावशाली आध्यात्मिक पुरुष थे। उन्होंने अपने भक्तिपदों में मानवमात्र को भेदभाव से दूर रहने को कहा। उन्होंने ईश्वर को विराट् रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने मानव को जन्म से नहीं बल्कि सत्कर्मों से महानता प्राप्त करने को कहा। मन की पवित्रता पर बल दिया। उनका कथन 'मन है चंगा तो कठौती में गंगा' मन की शुद्धता तथा ईश्वर के विराट् स्वरूप को

1. बाँके बिहारी, 'संत कबीरदास', *भवन्स जर्नल*, 11 जून, 1961, पृ 22
2. विभांशु दिव्याल, 'होता अगर कबीर', *राष्ट्रीय सहारा*, 27 जून, 1998

दर्शाता है।

यह सर्वज्ञात है कि भारत में प्रायः इस्लाम का प्रवेश तलवार तथा जोर जबरदस्ती से हुआ। संत रविदास समकालीन अफगान लोदी-शासक सिकन्दरशाह (1489-1517) के हिंदुओं पर घोर अत्याचारों से बड़े क्षुब्ध थे। सिकन्दरशाह अत्यधिक निर्दयी, धर्मांध तथा हिंदू-विरोधी था। वह मूर्तिभंजक था तथा उसने ज्वालामुखी के मन्दिर के अलावा मथुरा, मन्दैल, नरवर आदि अनेक स्थानों के मन्दिरों को नष्ट किया था। उसने कुरुक्षेत्र अथवा यमुना के तटों पर स्नान करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया था। मियाँ फकीर सदन ने संत रविदास से प्रभावित होकर हिंदू-धर्म अपना लिया था। सिकन्दरशाह संत रविदास के व्यापक प्रभाव से भी परिचित था, परन्तु तब भी उसने संत रविदास को जेल में डाल दिया था तथा उन्हें इस्लाम धर्म अपनाने के लिए दबाव डाला था। न मानने पर उन्हें जेल में भूखा रखा गया। संत रविदास हिंदुओं के सामूहिक तथा बलात् इस्लामीकरण से बहुत दुःखी थे। उन्होंने स्वयं लिखा :

**‘बड़े यवन यहां योहि भाँति, हिंदू घटे दिन राति
बाढ़े दुष्ट नीच अभिमानी, जिन वेदन की मार न जानी
ऊँच-नीच के भेद बढ़ाये, जिसने भारत देश बनाये
धर्म सनातन डूबो जाई, बढ़ अज्ञान दहूयों दुखदायी
भयो लोभवश नर और नारी, दई धर्म की सूरति बिसारी।’**

संत रविदास ने इस सामूहिक इस्लामीकरण की प्रक्रिया को एक चुनौती के रूप में लिया। उन्होंने हिंदू-समाज को किसी भी कीमत पर अपना धर्म न छोड़ने का आह्वान किया तथा इसके लिए कोई भी निम्न-से-निम्नतम कार्य को भी करने के लिए तत्पर रहने को कहा। हिंदू-धर्म रक्षार्थ उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग को जाग्रत किया। इस्लाम की आँधी से पीड़ित समाज में धार्मिक तथा राष्ट्रीय चेतन्य उत्पन्न किया। देश में आई कठोर परिस्थितियों में भी विचलित न होने का सन्देश दिया।

सम्भवतः चर्म-कर्म करने की कठोर शर्त पर यह इस्लामीकरण तथा गुलामीकरण की प्रक्रिया कम हुई। तभी से इतिहास में ‘चमार’-जैसे अपमानजनक शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व ऋग्वेद से तत्कालीन साहित्य तक कहीं भी इस शब्द का प्रयोग व्यवसाय के रूप में उल्लेख नहीं है।

धर्म-रक्षा के लिए संत रविदास का यह एक महानतम तथा कठोरतम पग था, जो अस्थायी कठिनतम परिस्थितियों के लिए था।

संत रविदास ने हिंदू-धर्म में पूर्ण आस्था रखने का सन्देश अपनी वाणी में कहा :

**‘धर्म सनातन मानन हारे, वेद शास्त्र है प्राण हमारे,
पूजौं राम कृष्ण चितलाई, गुरु द्विज संत करो सेवकाई।’**

इसके साथ ही संत रविदास ने हिंदू-धर्म में व्याप्त आन्तरिक कुरीतियों, बाह्याडम्बरों तथा कर्मकाण्डों की कटु आलोचना की। उन्होंने सामाजिक सुधारों का आह्वान किया तथा जाति-पाँति की जटिलता का विरोध किया। उन्होंने कर्म की श्रेष्ठता तथा नैतिकता को सर्वोच्च माना। तत्कालीन विषम परिस्थिति में उन्होंने निर्गुण भक्ति का उपदेश दिया। संत रविदास वास्तव में संत-शिरोमणि थे। इसीलिए संत कबीर ने उनके बारे में लिखा कि संतों में संत रैदास। वास्तव में वे हिंदू-धर्म के महान् रक्षक थे। उनके 30 से अधिक पदों को *गुरुग्रन्थसाहिब* में स्थान दिया गया है।

सन्त कबीरदास व सन्त रविदास की भाँति उनके अन्य दस शिष्य¹ भी प्रमुख भक्त थे। श्री अनन्तानन्द अयोध्या (ग्राम महेशपुर) के थे जिनके शिष्यों द्वारा भक्ति का प्रसार हुआ। श्री सुरसुरानन्द लखनऊ (ग्राम परखम) के थे। ऐसा माना जाता है कि उनके प्रश्नों के उत्तर में ही स्वामी रामानन्द ने *श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर* ग्रन्थ की रचना की थी। श्री सुखानन्द उज्जैन (ग्राम किरीटपुर) के थे जिन्होंने भक्ति के प्रचार के साथ *‘सुखसागर’* की रचना की थी। श्री नरहर्यानन्द (नरहरिदास) ने स्वामी रामानन्द व श्री अनन्तानन्द के साथ रहकर भक्ति का प्रचार किया। श्री योगानन्द गुजरात में सिद्धपुर क्षेत्र से थे। ये वैष्णव-भक्त के साथ एक महान् योगी थे। इसी भाँति श्री पीपाजी राजस्थान के गांगरोनगढ़ के राजपरिवार से थे जिन्होंने धर्म का प्रचार किया। श्री भावानन्द के पूर्वज मिथिला से आकर पण्डरपुर (ग्राम आलिन्दी) में रहने लगे थे। यहीं इनका जन्म हुआ। वे बड़े रामभक्त थे। श्री सेन जी मध्यप्रदेश के बांधवगढ़ से थे जो सेन भक्त के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री गालवानन्द सिंधु के (ग्राम पवाया) थे जो बड़े ज्ञानयुक्त तथा महान् योगी थे। श्री धन्ना जी राजस्थान के टोंक के (धुवन ग्राम) में

1. विस्तार के लिए देखें, *भक्तमाल*

हुए थे। वे इतिहास में धन्ना भक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं जो भक्तों, सन्तों तथा साधकों की बड़ी सेवा करते थे।

उपर्युक्त स्वामी रामानन्द तथा उनकी शिष्य-परम्परा से ज्ञात होता है कि स्वामी रामानन्द के शिष्य विभिन्न जातियों तथा वर्गों से थे। वे उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों से थे। परन्तु सभी में ईश्वर-भक्ति तथा राष्ट्रभक्ति की अटूट भावना थी। सभी ने हिंदू-समाज के धर्म के साथ सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन को आन्दोलित किया तथा मुस्लिम-आक्रांताओं से सुरक्षा तथा रक्षा-कवच का काम किया। जिस भाँति स्वामी रामानन्द तथा उनके 12 शिष्यों ने भक्ति की धारा का सर्वत्र विस्तार किया, उसी भाँति पुष्टिमार्ग के महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विठ्ठलदास ने आठ पुष्टिमार्गीय कवियों को छँटकर सन् 1545 (विक्रम संवत् 1602) में अष्टछाप¹ की स्थापना की। गोसाईं विठ्ठलनाथ, वल्लभाचार्य के छोटे पुत्र थे। अपने बड़े भाई गोपीनाथ के आकस्मिक निधन के कारण इन्होंने आचार्य-पीठ सम्भाली थी। इनके नेतृत्व में जहाँ पुष्टि सम्प्रदाय की तीव्र गति से उन्नति हुई, वहीं इनके सान्निध्य से समस्त ब्रजभूमि एक तीर्थस्थल, ब्रजभाषा एक प्रमुख भाषा तथा श्रीकृष्णभक्ति चहुँओर तेजी से विकसित हुई।

अष्टछाप की स्थापना में चार शिष्य— 1. सूरदास, 2. कुम्भनदास, 3. परमानन्ददास तथा 4. कृष्णदास वल्लभाचार्य के थे तथा 5. नन्ददास (1533-1583), 6. गोविन्दस्वामी (1505-1585), 7. छीतस्वामी (1514-1585) तथा 8. चतुर्भुजदास गुसाईं (1540-1585), विठ्ठलनाथ के शिष्य थे। इन अष्टछाप कवियों का योगदान हिंदी-साहित्य, विशेषतः ब्रजभाषा की अमूल्य देन माना जाता है। स्वयं विठ्ठलदास ने भी लगभग 50 ग्रन्थों की रचना की थी। इन अष्टकवियों के अलावा गोसाईं विठ्ठलनाथ के 252 शिष्य थे जो विभिन्न जातियों तथा वर्गों के थे। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में प्रवास किया, जिसका प्रमाण 28 बैठकें हैं।

कुम्भनदास का नाम अष्टछाप के कवियों में सर्वप्रथम है। श्री वल्लभाचार्य के शिष्यों में प्रथम थे, आयु में भी सबसे अधिक थे। वे एक महान् संगीतज्ञ तथा सरस पदों के रचयिता थे। एक बार सम्राट् अकबर ने उन्हें फतेहपुर सीकरी आने को बाध्य किया। अकबर के कहने पर उन्होंने निर्भीकतापूर्वक

गाया:

‘संतन को कहा सीकरी सों काम ?

आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि नाम ॥

जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ॥

‘कुम्भनदास’ लाल गिरिधर बिनु, और सबै बेकाम ॥’

यह सुनकर अकबर हक्का-बक्का रह गया। पर उसने एक रत्नमाला दी, परन्तु कुम्भनदास ने बाहर आकर उसे तोड़कर फकीरों में बाँट दी और डोरी रख ली। गोवर्धन के निकट अपने जमुनावती ग्राम के लोगों ने पूछा, “सम्राट् ने क्या दिया?” उन्होंने अपनी पगड़ी में से वह खाली रेशम की डोरी निकालकर जिसमें रत्न पिरोए हुए थे, दिखलाते हुए कहा, “माया ससुरी बाँधने आई थी सो हम वा बाँधनहारी की तौडिके लै आए।”

उपर्युक्त कथन से भारतीय-समाज की मुगल-शासन के प्रति मानसिकता प्रकट होती है।

महाकवि सूरदास श्री वल्लभाचार्य के दूसरे विश्वविख्यात शिष्य थे। इनका जन्म वर्तमान हरियाणा के सीही ग्राम में हुआ। इस समय इस गाँव पर मुसलमानों का भीषण आक्रमण हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि सूरदास के 6 भाई इस संघर्ष में बलिदान हो गए थे। एक मत यह भी है कि सूरदास जन्मांध न थे बल्कि एक चोट से अन्धे हो गए थे तथा इन्हें एक कुएँ में धक्का दे दिया गया था। कुएँ से निकाले जाने के कुछ काल पश्चात् इनकी भेंट प्रयाग में श्री वल्लभाचार्य से हुई। वे सूरदास की मधुर वाणी से बड़े प्रभावित हुए तथा अपने साथ ब्रज ले आए थे। सूरदास तन्मयता से श्रीकृष्ण के जीवन पर पदों की रचना करने लगे। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का इतना सजीव वर्णन किया, जो अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अपनी काव्य-रचना में श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक घटनाओं को अपने विख्यात ग्रन्थ ‘सूरसागर’ में स्थान दिया। इसी भाँति परमानन्द ने ‘परमानन्द सागर’ की रचना की, जिसमें 835 पद हैं। कृष्णदास ने भी भगवान् कृष्ण के जीवन पर ‘जुगलमान चरित’, ‘भ्रमरगीत’ तथा ‘प्रेमतत्त्व-निरूपण’ लिखे।

श्री छीतस्वामी मथुरा के रहनेवाले थे तथा इन्होंने पदों में शृंगार का वर्णन किया तथा ब्रजभूमि का यशोगान किया। श्री गोविन्दस्वामी एक उच्च

1. दीनदयालु गुप्ता, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दो भाग, इलाहाबाद, 1970

कोटि के भक्त तथा गायक थे। चतुर्भुजदास जी, कुम्भनदास के पुत्र थे। इन्होंने कृष्ण-चरित्र पर अनेक पदों की रचना की। नन्ददास युगल-लीलाओं का सरस गान करते थे। संक्षेप में अष्टछाप के कवियों ने सम्पूर्ण भारत के वातावरण को ही झकझोर दिया। यह एक प्रकार की सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात था जिसने भारतीयों को पठानों तथा मुगलों के भययुक्त समाज से मुक्त कराया।

यदि हम संक्षेप में मुस्लिम-आक्रांताओं के मुख्य काल (1206-1707 ई.) को देखें तो इसी काल में भक्ति-आन्दोलन की रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति की धारा समूचे भारत में तेजी से फैली। भारत का कोई क्षेत्र ऐसा न रहा जहाँ सन्तों, भक्तों अथवा विद्वानों ने इस पुण्य-प्रवाह में स्नान न किया हो।

पूर्वी भारत के असम में शंकरदेव (1449-1569) महान् कृष्णभक्त हुए। प्रभु-कृपा से उन्होंने आयु भी 120 वर्ष की पाई थी। शंकरदेव का जन्म सामान्य परिवार में हुआ तथा इनके बाल्यकाल में इनके माता-पिता का साया न रहा था। अल्पायु में शिक्षा प्राप्तकर आपने अपना नाता भगवान् श्रीकृष्ण से जोड़ लिया। वे तीर्थाटन को निकल पड़े। वे असम में प्रचलित शाक्त से वैष्णव-धर्म के उपासक हो गये। आपको *भगवद्गीता*, *भागवतमहापुराण* तथा भगवद्भजन में बड़ा आनन्द आने लगा। शीघ्र ही उनका यश चारों ओर फैलने लगा। उन्होंने संस्कृत-भाषा में '*भक्तिरत्नाकर*' की रचना की जिसका अनुवाद असमीया भाषा में रामशरण ठाकुर ने किया। इन्होंने '*आदिदशम*', '*कीर्तनघोषा*' इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ लिखे। इनके द्वारा प्रचारित वैष्णव-धर्म को 'महाधर्म' या 'महापुरुष धर्म' अथवा महापुरुषिया धर्म कहा गया।

शंकरदेव का मत श्रीमद्भागवत के भक्ति-सिद्धान्तों पर आधारित है और अद्वैत के साथ भक्ति के संयोग को मानता है। उनके उपदेशों का सैद्धान्तिक पक्ष अध्यात्म और व्यावहारिक पक्ष कृष्ण-भक्ति की साधना का है।

शीघ्र ही शंकरदेव की भक्ति-भावना, कीर्तन-भजन ने असम की जनता का मन मोह लिया। उनके मत की अनेक शाखाएँ स्थान-स्थान पर खोली गईं, एक लेखक ने शंकरदेव को 'असम का महाप्रभु चैतन्य' कहा है।¹ कुछ उन्हें

'महापुरुष शंकरदेव' के नाम से भी स्मरण करते हैं।¹ शंकरदेव के शिष्यों— दामोदरदेव, माधवदेव, हरिदेव, गोपाल अत्ता आदि ने उनसे प्रेरणा लेकर अलग पंथों द्वारा भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाया। असम में शंकरदेव, माधवदेव तथा दामोदरदेव— तीनों को विष्णु के अलग-अलग अवतारों के रूप में माना जाने लगा। इनके कारण असम का अधिकांश कृष्ण-भक्ति में रम गया।

बंगाल, बिहार, उड़ीसा में इसी भक्ति-भावना का संचार विद्यापति तथा चैतन्य महाप्रभु ने किया। विद्यापति (1352-1448) में लोकप्रिय मैथिल कवि थे जिन्हें हिंदी, बंगला तथा उड़िया में प्रथम पंक्ति में स्थान दिया जाता है। उन्होंने शृंगार तथा भक्ति— दोनों रसों में रचनाएँ कीं। उनकी रचना की भाषा 'अवहट्ट' संस्कृत-मिश्रित मैथिल है। एक लेखिका के अनुसार, 'उनकी कृतियों में तत्कालीन समाज की झलक है, राजा के युद्धों का वर्णन है, विदेशियों के आक्रमण का तत्कालीन इतिहास के सम्पूर्ण दस्तावेज हैं विद्यापति की कृतियाँ।' उनकी कविताओं में भक्ति तथा शक्ति— दोनों हैं।

इसी भाँति बंगाल तथा उड़ीसा में ही कृष्णभक्ति की प्रेम-भावना को फैलाया बंगाल के नदिया ज़िले के नवद्वीप में जन्मे चैतन्य महाप्रभु (1485-1533) ने। पिता जगन्नाथ मिश्र तथा माता सची देवी ने पुत्र का नाम रखा 'विश्वम्भर'। गौरवर्ण तथा हरिभक्त होने पर कहलाए 'गौरांग' या 'गौरहरि'। न्यायशास्त्र के विद्वान् होते हुए शीघ्र ही कृष्ण-भक्ति को जीवन का उद्देश्य बनाया। कृष्ण के प्रति उनके मन में राधा-सरीखी भक्ति हमेशा रहती। 17 वर्ष की आयु में उन्हें गुरु-रूप में संन्यासी ईश्वरपुरी मिले, जिन्होंने 'कृष्णा-कृष्णा हरिबोल' का मन्त्र फूँका। 24 साल की आयु में केशव भारती ने उन्हें संन्यासी बनाया। ऐसा माना जाता है कि जब वे कृष्ण-प्रेम में मस्त हो नृत्य करते, तो पशु भी इनके साथ नाचने लगते। उन्होंने समूचे भारत का भ्रमण किया। वृन्दावन में ठहरे, परन्तु जीवन के अन्तिम वर्षों में अपना केन्द्र उड़ीसा में जगन्नाथपुरी को बनाया। मणिपुर आदि पूर्वोत्तर क्षेत्र में भी उनका बड़ा प्रभाव हुआ। उत्कल-नरेश प्रतापरुद्र (1497-14540) भी चैतन्य की संकीर्तन-टोली के संग झूमने लगते थे। उन्होंने उपदेश किया कि प्रभुनाम सुमिरन से ही कलियुग में शान्ति और प्रेम का आगमन हुआ।

चौदहवीं शताब्दी में काश्मीर में जन्मी लल्लादेवी या लल्लेश्वरी

1. डॉ. राजेन्द्र दीक्षित, कृष्णभक्त शंकरदेव, दैनिक जागरण, 04 नवम्बर, 2003; विस्तार के लिए देखें, ए. नियोन शंकरदेव एण्ड द वैष्णव मूवमेन्ट्स इन असम (कोलकाता, 1978)

1. डॉ. राजेन्द्र सिंह कुशवाहा, पूर्वोद्धृत, पृ. 245

(1320-1392) को मीरा का पूर्वज माना जाता है। वह आधुनिक काश्मीरी-भाषा तथा साहित्य की प्रारम्भकर्ता मानी जाती हैं। सांसारिक प्रेम तथा पारिवारिक जीवन से असन्तुष्ट हो वे संन्यासी बन गई थीं तथा गाँव-गाँव घूमती थीं। वे एक विद्वान् गुरु सिद्ध श्रीकण्ठ अथवा सिद्धमूल से प्रभावित हुईं तथा उनको अपना आध्यात्मिक गुरु बनाया जिन्होंने उन्हें शैवमत का अनुयायी बनाया।

उल्लेखनीय है कि ललेश्वरी को संस्कृत-भाषा में लिखने का आग्रह किया गया। कहा गया कि 'जैन और बौद्ध-विद्वानों ने काश्मीर में संस्कृत-भाषा और साहित्य की अपार सम्पदा विरासत में पाई थी। यहाँ के राजाओं ने शिवभक्तों व अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी मन्दिर बनवाये। संस्कृत-भाषा के विद्वानों और काश्मीर राज्य में सम्मान देनेवाले राजाओं का इतिवृत्त कवि कल्हण ने लिखा।'

ललेश्वरी ने संस्कृत-भाषा के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए कहा कि 'क्या शंकर-स्तुति को जनभाषा में नहीं स्वीकार करनी चाहिए? भगवान् क्या संस्कृत में की गई स्तुति को समझते हैं।' अतः उन्होंने राजकीय सम्मान, राज्याश्रय, राज्यकवि की किसी भी इच्छा को अस्वीकारकर काश्मीर की जनभाषा में शिव की स्तुति लिखी। उनकी 'वाखों' को काश्मीर में ऊँचा स्थान मिला तथा वहाँ के पण्डितों को, जो मुस्लिम-अत्याचारों से पीड़ित थे, सात्वना तथा शक्ति प्राप्त हुई।

पंजाब में इसी भक्ति तथा इसके साथ शक्ति का प्रसार अथवा शान्ति तथा साहस का संचार गुरु नानकदेव (1469-1539) व उनके उत्तराधिकारी गुरुओं ने किया। गुरु नानकदेव जगद्गुरु थे। वे एक महान् समाज-सुधारक तथा आध्यात्मिक पुरुष थे। गुरु नानक ने अपने धर्म-प्रचार के साथ अपने काल की विषम परिस्थितियों का भी अध्ययन किया। जनता सिकन्दर लोदी के क्रूर तथा धार्मिक अत्याचारों से परेशान थी। तभी लुटेरे तथा धर्मांध बाबर के आक्रमणों से स्थिति और भी विकट हो गई थी। मुसलमान बलपूर्वक हिंदुओं को मुसलमान बना रहे थे। गुरु नानक ने सिकन्दर लोदी तथा बाबर के वीभत्स अत्याचारों की कठोर शब्दों में निन्दा की। उन्होंने बाबर के आक्रमण को 'पाप की बारात' कहा तथा उसे 'यमराज' कहा।

गुरु नानक का वैशिष्ट्य इस तथ्य में है कि उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया। वे मानव के दोहरे स्वभाव के विरुद्ध थे। उन्होंने

समाज में कोरे आदर्शवाद, बाह्याडम्बर, सामाजिक संकीर्णता तथा जातीय कटुता का घोर विरोध किया। गुरु नानक ने स्वयं के व्यवहार से एक सच्चे कर्मयोगी का जीवन प्रस्तुत किया। उन्होंने संन्यासी बनने की अपेक्षा गृहस्थ के रूप में समाज-सेवा करने को कहा। उन्होंने अपने उपदेशों में सतनाम की महिमा, सामान्य व्यक्ति में सत्य की तड़प तथा पाखण्ड के विनाश की बात की। उन्होंने ईश्वर के साक्षात्कार के लिए आत्मसमर्पण के शाश्वत विचार को रखा। उनके उदात्त धार्मिक विचारों से हिंदुओं के अलावा बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई भी आकर्षित हुए थे। प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975) के अनुसार¹ वे अपने युग में भी हिंदुओं के गुरु तथा मुसलमानों के पीर की तरह माने जाते थे। भाई महावीर (जन्म : 1922) के अनुसार² गुरु नानक ने हिंदू तथा इस्लाम— दोनों धर्मों के बाह्याडम्बरों व दिखावे का विरोध किया था तथा दोनों ही उनकी सादगी एवं प्रेम से अत्यधिक प्रभावित थे। प्रसिद्ध विद्वान् लाबजेंग के अनुसार, ईश्वर के साक्षात्कार के लिए, अहंभावना की समाप्ति में उनके विचार ईसामसीह से मिलते-जुलते हैं।³

गुरु नानक ने अपना उपदेश न केवल भारत तक, अपितु एशिया के जनमानस तक पहुँचाया। उन्होंने हज़ारों मील की पैदल यात्राएँ कीं। वे भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए सीलोन, अरब, मिस्र, टर्की, रूसी तुर्किस्तान तथा अफ़गानिस्तान गये। वस्तुतः गुरु नानकदेव उस ऋषि-परम्परा के थे जिन्होंने अतीत में सांस्कृतिक बृहत्तर भारत की स्थापना की थी। संक्षेप में उन्होंने अपनी समस्त शिक्षाओं को तीन वाक्यों में रखा— कृत कर, नाम जप तथा वंड खा अर्थात् परिश्रम कर, सतनाम का जाप तथा बाँटकर खा। ये हिंदू-जीवन के तीन आदर्श-वाक्यों— कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का अद्भुत समन्वय हैं।

गुरु नानकदेव के पश्चात् सिख-पंथ के अन्य नौ गुरु प्रसिद्ध हुए। सिख-गुरुओं के पवित्र विचारों को *गुरुग्रन्थसाहिब* में स्थान दिया गया। सिख-पंथ के अन्य गुरु— 2. गुरु अंगददेव (1539-1552), 3. गुरु अमरदास (1552-1574), 4. गुरु रामदास (1574-1581), 5. गुरु अर्जुनदेव

1. डॉ॰ राधाकृष्णन, नानक, *भवन्स जर्नल*, दिसम्बर, 1961

2. डॉ॰ भाई महावीर, देखें, उनका लेख, *द ऑर्गनाइज़र*, दीवाली अंक, 1964

3. लाबजेंग, गुरु नानक, *हिंदुस्तान टाइम्स*, अगस्त, 1961

(1581-1606), 6. गुरु हरगोविन्द (1606-1644), 7. गुरु हरराय (1644-1661), 8. गुरु हरकिशन (1661-1664), 9. गुरु तेगबहादुर (1664-1675) तथा 10. गुरु गोविन्द सिंह (1675-1708) भक्ति तथा शक्ति के अद्भुत उदाहरण थे। प्रायः इन सभी का मुग़लों अथवा मुसलमानों के अत्याचारों से टकराव हुआ। उदाहरणतः गुरु अमरदास ने एक बार हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर अपने संगतों में घुस आए तुर्कों से साधुओं की रक्षा की। सम्राट् जहाँगीर गुरु अर्जुनदेव द्वारा ग्रन्थ के संकलन से क्रोधित हो उठा। गुरु को 'सच्चा पादशाह' कहा जाने लगा। जहाँगीर का विद्रोही पुत्र खुसरो मिर्जा, जो काबुल की ओर भागता हुआ, एक रात गोइंदवाल में गुरु जी की शरण में ठहरा था, बस जहाँगीर को बहाना मिल गया। गुरुजी पर राजद्रोह का आरोप लगाकर लाहौर बुलाया। धर्माध्व जहाँगीर ने उन्हें खोलते हुए पानी की देग में बैठा दिया, उन्हें गर्म तवों पर बैठाया गया। गुरु अर्जुनदेव को यह भी पता चला कि अगले दिन एक गाय की हत्याकर, उनकी खाल में उन्हें सिलवाया जाएगा। गोहत्या की बात सुनकर गुरुजी ने शरीर त्यागने का विचार किया तथा रावी की लहरों में 30 मई, 1606 को अपने जीवन का बलिदान कर दिया।

इसी भाँति गुरु हरगोविन्द का भी जहाँगीर से टकराव हुआ। गुरु हरगोविन्द ने अब दो तलवारें धारण कर ली थीं। एक का नाम 'मीरी' यानि सांसारिक तथा दूसरी 'पीरी' यानि आध्यात्मिक। उन्होंने 'अकाल तख्त' का निर्माण भी किया था। साथ ही धार्मिक यात्रा की तथा प्रचलित मसनद-व्यवस्था में सुधार किया था। सिख-पंथ के नवें गुरु तेगबहादुर हुए। वह धर्म-प्रचार के लिए कुरुक्षेत्र, बनारस, पटना, असम तथा ढाका में घुबरी तक गये तथा वहाँ एक गुरुद्वारे की भी स्थापना की। धर्म-रक्षार्थ तेगबहादुर का बलिदान विश्व के इतिहास में एक अद्भुत शौर्य, वीरता तथा पराक्रम का आदर्श उदाहरण है। इसी भाँति इनके पुत्र गुरु गोविन्द सिंह (जन्म : 1666, निधन : 1708) ने अपने जीवन में भक्ति और शक्ति का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया। इन्हें इतिहास में 'सन्त सिपाही' के नाम से पुकारा जाता है। वे एक ऐसे गुरु थे जिन्होंने अपने पिता गुरु तेगबहादुर को बलिदान की प्रेरणा दी, अपने चारों पुत्रों का बलिदान दिया, स्वयं का बलिदान दिया तथा अपने शिष्य बन्दा सिंह बहादुर (1670-1716) को बलिदान के लिए तैयार किया। निःसन्देह विश्व के इतिहास में एक भी उदाहरण नहीं मिलता। उन्होंने पंथ में सुधार तथा मुग़लों के साथ सतत संघर्ष के लिए

1699 ई. में वैशाखी के पर्व पर खालसा-पंथ की की और अपने अनुयायियों को अपने-अपने नाम के पीछे 'सिंह' लगाकर 'पञ्च ककार' अपनाने को कहा। इतना ही न हीं, गुरु गोविन्द सिंह ने अपने पश्चात् सिख-पंथ में गुरु-परम्परा समाप्त करने की घोषणा की और *गुरुग्रन्थसाहिब* को ही गुरु मानने को कहा। तभी से *गुरुग्रन्थसाहिब* सिख-पंथ का मार्गदर्शक तत्त्व बन गया है। इसके साथ ही गुरु गोविन्द सिंह स्वयं भी एक श्रेष्ठ कवि एवं लेखक थे। उनके दरबार में 52 कवियों का समूह था। अतः उन्होंने भक्ति के साथ शक्ति की अटूट परम्परा का निर्माण किया था।

सार रूप में गुरु नानकदेव से गुरु गोविन्द सिंह की महान् गुरु-परम्परा ने भारतीयों में आत्मविश्वास, आत्मगौरव के साथ अद्भुत साहस तथा वीरता का भाव उद्दीप्त किया, न केवल राष्ट्रीय जागरण किया बल्कि भारतीयों को मुग़लों के साथ प्रतिकारकर शत्रुओं को पराभूत करने का भी साहस जगाया था।

सिंध (वर्तमान पाकिस्तान में) में 16वीं शताब्दी में प्रसिद्ध भक्त-सन्त झूलेलाल (1547-?) का जन्म नरसपुर में श्री रत्नराय के यहाँ हुआ। पहले इनका नाम उदय था जो बाद में उदरु कहलाया। उन्होंने प्रारम्भ से ही अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई तथा एक अत्याचारी धर्माध्व मुस्लिम-नवाब मिर्क को पराजित किया। पर वे शीघ्र ही भक्ति व आध्यात्मिकता के मार्ग की ओर बढ़े तथा इन्हें झूलेलाल के रूप में माना जाने लगा। ये सिंधी-समाज में वरुण देवता के अवतार कहे जाने लगे। उन्हें आज भी वैदिक सनातन धर्म के रक्षक के रूप में माना जाता है।

राजस्थान जहाँ अपने वीरत्व, साहस, पराक्रम के लिए जाना जाता है वहीं वह हिंदू-धर्म के विभिन्न समुदायों, पंथों की पुण्यस्थली भी रहा। इस भूमि पर प्रसिद्ध गोगा जी (935-1025) से लेकर तेजा जी (1074-1103), पाबूजी (14वीं शताब्दी), पीपाजी (1426-?), मालिननाथ व रामदेवाजी (14वीं शताब्दी), जम्बेश्वर (1451-1536), मीराबाई (1498-1547), दादूदयाल (1544-1603) व लालदास (16वीं शताब्दी) तथा नागरीदास (1699-1757) आदि प्रत्येक युग में धार्मिक भक्तों तथा सन्तों का आविर्भाव हुआ।

गोगा जी चुरु के चौहान सामन्त थे। इतिहास में इनका स्थान दो वैशिष्ट्य से माना जाता है। वे प्रसिद्ध गोभक्त थे तथा उसकी रक्षा के लिए सर्वस्व

त्याग के लिए प्रतिबद्ध रहते थे। साथ ही उन्होंने अपने परिवार सहित मुसलमानों का, विशेषकर महमूद गजनवी के भारत-आक्रमण के समय घोर प्रतिरोध किया था। 90-वर्षीय गोगा बापा ने अपने पुत्र, पौत्रों तथा प्रपौत्र सहित महमूद गजनवी का मार्ग ही अवरुद्ध न किया बल्कि बाद में गोगा के 65-वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र सज्जन चौहान ने बदला लेने के लिए अपने को जैसलमेर का एक जागीरदार बताकर, गजनी की सेना को रेगिस्तान में सीधे रास्ते में मरुस्थल पार करवाने को कहा था जो चार दिन की यात्रा के बाद भयानक अंधड़ रेगिस्तान में फँस गई थी। वीर चौहान ने भी वहीं मरु-समाधि ली थी। अतः समस्त उत्तर भारत में गोगा बापा तथा उनके बलिदान की अमर कथा प्रचलित है। उनकी स्मृति में प्रति वर्ष गोगामढ़ी पर भाद्रपद कृष्ण नवमी पर मेला लगता है। सम्भवतः फ़िरोज तुग़लक़ के काल (1351-1388) में इनके किसी वंशज कर्मचन्द ने दबाव में आकर इस्लाम स्वीकार किया। तभी से उन्हें गोगावीर के बजाय 'गोगापीर' कहने की भ्रांति जान-बूझकर प्रचलित की गयी। परन्तु यह ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ग़लत है। आज भी मन्दिर का स्वरूप मस्जिदनुमा करके तथा समाधि का स्वरूप कब्रनुमा है। वस्तुतः गोगा जी व उनके परिवार का हिंदू-धर्म, गोमाता तथा महमूद गज़नवी से सोमनाथ की रक्षार्थ युद्ध करते हुए बलिदान हुआ था।

गोगा जी की भाँति तेजा जी ने, जो नागौर के खण्डनाल ग्राम के थे, गोरक्षा के लिए अपना बलिदान दिया था, जिनकी स्मृति में आज भी एक पशु-मेला लगता है तथा उन्हें एक घोड़े पर सवार तथा हाथ में तलवार लिए दिखलाया गया है। पाबू जी एक राठौर सामन्त थे, जो अपने विवाह के अवसर पर उसे बीच में ही छोड़कर गायों की रक्षा के लिए मुसलमानों से लड़ने चल पड़े थे तथा अपना बलिदान दिया था। आज भी उन्हें एक स्थानीय देवता के रूप में महिलाओं तथा गायों का रक्षक माना जाता है। गागरोन (कोटा) के शासक पीपा जी, जो एक चौहान राजपूत थे, ने फ़िरोज़ तुग़लक़ की एक विशाल सेना को पराजित किया था। कुछ काल बाद वे सन्त रामानन्द के शिष्य बन गए थे। उन्हें राजस्थान में जगद्गुरु पीपाचार्य के रूप में पूजा गया। मालिननाथ, जो मारवाड़ के शासक रावल सालका के पुत्र थे, फ़िरोज़ तुग़लक़ की सेना के साथ युद्ध किया था। साथ ही वे विष्णु के महान् भक्त तथा हरि-कीर्तनों के संगठक थे। रामदेवाजी भी उनके समकालीन थे जो तोमर राजपूत थे। उन्होंने गरीबों की रक्षार्थ तथा तत्कालीन अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष किया। उनके रामद्वारे नाम से कई मन्दिर

बनाए गये।

पन्द्रहवीं तथा 16वीं शताब्दी में भी राजस्थान में भक्ति की अपूर्व परम्परा चलती रही। इसी काल में पीपासर (नागौर) के सामन्त जम्बा जी हुए। वे एक पवार (परमार) राजपूत थे तथा लोहित जी के पुत्र थे। उन्होंने गहन चिन्तन के बाद जीवन में 29 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो वस्तुतः पर्यावरण की रक्षा के लिए सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय 'विश्वोई' कहलाता है।

मध्यकाल में न केवल राजस्थान अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष में इतनी ईश्वरभक्त कोई महिला ऐसी न हुई जितनी मीराबाई। राजस्थान के जोधपुर राज्य के संस्थापक राजा जोधा जी (1438-1488) राठौर थे। इनके पुत्र राव दूदा जी को मेड़ता की जागीर मिली थी। मीराबाई इन्हीं राव के पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म 1498 ई. में कुड़की नामक ग्राम में हुआ। बचपन में इनके माता-पिता की मृत्यु हो गई थी। ये अपने पितामह राव दूदाजी के पास आकर रहने लगी थीं। परन्तु पितामह के मरने पर उनके पुत्र वीरम देव ने इनका विवाह चित्तौड़ के सिसोदिया-वंश के प्रतापी राजा संग्राम सिंह (1509-1528) के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से कर दिया था। दुर्भाग्य से दस वर्ष पश्चात् मीरा के पति का भी स्वर्गवास हो गया।

मीराबाई अपने दादा से मिलीं, श्रीकृष्ण की पूजा और आराधना में पूरी तरह समर्पण भाव से लग गयीं। उनके स्वरचित भक्तिपूर्ण भजनों की गूँज दूर-दूर सुनाई देने लगी। परन्तु उनके कष्टों का साया जीवनभर उनपर छाया रहा। मीरा पर राजसी नियमों का उल्लंघनकर साधु-सन्तों से मिलना, जनसाधारण के मध्य भक्ति-गीत गाना तथा नाचना राजपरिवार को न भाया। भोजराज के भाई विक्रमजीत ने मीरा को मारने के लिये कई षड्यन्त्र किये। कभी विषैले नाग की मंजूषा तो कभी विष का प्याला भिजवाया, परन्तु इस प्रभु की दीवानी का बाल भी बाँका न हुआ। अन्त में असहाय मीरा अपनी सहेलियों—ललिता और उदा के साथ चित्तौड़ से पैदल ही पुष्कर होती हुई वृंदावन पहुँचीं। कुछ दिनों बाद मीरा द्वारका गयीं। वहीं पर सन् 1557 में उनका शरीर शान्त हुआ। मीरा के भावपूर्ण भजन इतिहास में अमर हो गए जो आज भी किसी भी भक्त, साधक को द्रवित करते हैं।

राजस्थान में दादू दयाल एक अत्यन्त प्रसिद्ध, प्रभावी तथा तेजस्वी सन्त थे। लोग उन्हें 'राजस्थान का कबीर' कहते हैं। उनकी अपने जीवनकाल में अनेक संतों तथा भक्तों से भेंट हुई। सम्राट् अकबर से भी उनकी भेंट हुई। उनकी प्रेरणा से 'दादूपंथ' की स्थापना हुई जिसे रज्जब, उल्सार, गरीबदास (1717-1778), बावन, जयगोपाल-जैसों ने अपनाया। उसी काल में लालदास (1540-1648) हुए जो मूलतः एक मुस्लिम थे, पर वे हिंदू भक्त बन गए थे। उन्होंने अपना नाम लालदास रख लिया था।

जहाँ भगवान् सोमनाथ का मन्दिर गुजरात की देन है, वहीं भक्त नरसिंह मेहता (1414-1481) भी उसकी अद्वितीय देन हैं। इनके पिता कृष्णदास गुजरात में गिरिनगर (जूनागढ़) जिले के कृतिपाड़ा में रहते थे। इनके दो पुत्र— वंशीधर एवं नरसिंह थे, बचपन में माता-पिता का निधन हो जाने पर इनका पालन इनकी दादी ने ही किया। नरसी जन्म से आठ वर्ष तक गूंगे थे। इससे दादी उनके भविष्य के बारे में चिन्तित रहती थीं। वह नित्य मन्दिर जातीं तथा प्रभु से प्रार्थना करतीं। कहा जाता है कि एक बार रास्ते में बैठे किसी संन्यासी को देख, दादी ने उनसे अपने पौत्र की पीड़ा सुनाई तथा गूंगेपन से छुटकारे के लिए आशीर्वाद देने को कहा। बच्चे को बुलाकर कान में कहा, 'राधेकृष्ण कहो।' तभी से नरसिंह बोलने लगे। नरसिंह के बोलने का समाचार चारों ओर फैल गया।

तभी से नरसिंह मेहता कृष्णभक्ति में पूर्णतः तन-मन से लग गये। भगवान् कृष्ण के भजन के सम्मुख वह खाना-पीना भूल जाते। उनके जीवन की अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। नरसिंह की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी, परन्तु अपने द्वार से उन्होंने कभी किसी को खाली हाथों नहीं जाने दिया। यह प्रसिद्ध है कि भगवान् द्वारकानाथ उनके मुनीम बनकर उनका समस्त ऋण चुकाते थे।

नरसिंह मेहता पढ़े-लिखे न थे। कभी पाठशाला न गए थे। परन्तु उन्होंने लगभग 5 हजार स्वचित पदों की रचना की थी। *नागदमन*, *दाणलीला*, *मानलीला*, *गोपिका वस्त्रहरण*, *सुदामाचरित*, *पुत्रविवाह*, *मामेरू* आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। नरसिंह मेहता का यह पद 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे' अत्यन्त लोकप्रिय है अर्थात् दूसरों की पीड़ा में जो दुःखानुभव करे, वही वैष्णव है। माना जाता है कि एक दिन कृष्ण-भक्ति में मग्न करतल बजाते-बजाते इनका देहावसान हुआ। संक्षेप में भगवद्विश्वास में उनका सम्पूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण दर्शन निहित है।

गुजरात में एक दूसरे प्रसिद्ध भक्त तथा गुरु प्राणनाथ स्वामी (1618-1694) हुए जो वीर छत्रसाल के मार्गदर्शक थे। इनका जन्म जामनगर में क्षत्रिय-परिवार में हुआ। इनके पिता केशव ठाकुर, जामनगर राज्य के प्रधानमन्त्री थे। 12 वर्ष की आयु में इनका संबंध प्रसिद्ध सन्त देवचन्द से आया था। इन्होंने वेद तथा पुराणों का अध्ययन किया। भारत-भ्रमणकर अत्याचारी मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब के कुकृत्यों को प्रत्यक्ष देखा तथा सुना। वे इसके प्रतिकार के लिए भारत के विभिन्न स्थानों पर योग्य पराक्रमी की प्राप्ति के लिए घूमे। अन्त में बुन्देलखण्ड के छत्रसाल में उन्होंने वे सब आवश्यक गुण देखे।

स्वामी प्राणनाथ ने न केवल वैदिक एवं अन्य भारतीय-शास्त्रों का अपितु इस्लाम-यहूदी मतों का भी अध्ययन किया था। *श्रीमद्भागवतपुराण* के आधार पर *कुरआन* की 'सनन्ध' नामक टीका लिखी थी। उन्होंने कई बार औरंगज़ेब से मिलना चाहा, पर सम्भवतः औरंगज़ेब उनसे शास्त्रार्थ करने से डरता था। स्वामी प्राणनाथ ने धर्मांध औरंगज़ेब से टक्कर लेने के लिए प्रत्येक घर से एक-एक युवक माँगकर धर्मरक्षार्थ एक विशाल सेना एकत्रित की थी। इनके अनेक शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु देवचन्द द्वारा स्थापित प्रणामी पंथ को संगठित और उसका विस्तार किया।

उत्तर भारत में गोस्वामी तुलसीदास को किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। उनके द्वारा विरचित '*श्रीरामचरितमानस*' हिंदू-परिवारों में सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला ग्रन्थ है। बचपन से ही वे कठिन परिस्थितियों में पले थे, परन्तु उससे विचलित न हुए थे। नरहरि के सम्पर्क में आने पर उन्हें रामचरित की विस्तृत जानकारी मिली थी। इनका विवाह हुआ, परन्तु शीघ्र ही पारिवारिक जीवन छोड़कर पूर्णतः रामभक्ति में लग गए थे। वे रामनाम में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें '*सियाराम मय सब जग जानी*' लगने लगा था। गोस्वामी तुलसीदास संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे परन्तु उन्होंने जनवाणी हिंदी में अपने ग्रन्थों की रचना की। उनके ग्रन्थ हैं— *श्रीरामचरितमानस*, *विनयपत्रिका*, *श्रीहनुमानचालीसा*, *कवितावली*, *पार्वतीमंगल*, *जानकीमंगल*, *बरवैरामायण*, *रामाज्ञाप्रश्न*, *वैराग्यसंदीपनी*, *गीतावली*, *श्रीकृष्णगीतावली*, *कवितावली*, *हनुमानबाहुक*, *रामललानहछू*, *दोहावली* इत्यादि।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में उनका *श्रीरामचरितमानस* तथा *हनुमानचालीसा*

सर्वाधिक विख्यात हैं। मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन पर भारतीय-संस्कृति के आदर्श रूप में जनजीवन के कण-कण में व्याप्त है। भारत के राष्ट्रीय जागरण में इन ग्रन्थों की सर्वदा अमूल्य देन रही है।

उत्तर भारत के गिने-चुने प्रसिद्ध मुस्लिम-भक्तों में सर्वोपरि स्थान रसखान (1548-1628) का है जिनका असली नाम मियां इब्राहीम था, जो मूलतः दिल्ली के रहनेवाले थे। विश्व में कोई ही ऐसा कृष्णभक्त होगा जो उनकी अनूठी भावपूर्ण कृष्णभक्ति की कविताओं से अपरिचित होगा। उन्होंने वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के गोस्वामी विठ्ठलनाथ से दीक्षा लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्ण-भक्ति में लीन कर दिया। वे गोस्वामी के 252 शिष्यों में से एक थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ कविताओं तथा सवैयों के रूप में लिखीं। इनका संग्रह *प्रेमवाटिका* तथा *सुजान रसखान* के रूप में संकलित किया गया है। उन्होंने लगभग 310 छंदों की रचना की। उनका एक प्रसिद्ध प्रचलित छंद है—

**‘मानुष हैं तो वही रसखान, बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हैं तो कहा बस मेरौ, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन,
पाहन हैं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हैं तो बसेरो करौं, नित कालिंदीकूल कदम्ब की डारन ॥’**

कवि रसखान द्वारा कृष्ण की बाललीला का वर्णन महाकवि सूरदास को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। सन् 1628 में इनका देहावसान हुआ। इनकी समाधि गोकुल से दो किलोमीटर पूर्व में है। समाधि-परिसर में ही रसखान की बहिन ताज की भी समाधि है जिसने भी वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा लेकर अपना जीवन कृष्ण-भक्ति में लगाया था।

महाराष्ट्र की भूमि सदैव भक्तों, सन्तों तथा गुरुओं की भूमि रही। यहाँ के भक्तों ने जहाँ सम्पूर्ण क्षेत्र में धार्मिक प्रवृत्ति का संचार किया, वहीं गुरुओं ने राष्ट्रभक्तों को तैयार किया। महाराष्ट्र के भक्तों में सर्वप्रथम स्थान सन्त ज्ञानेश्वर (1275-1296) का है जिन्होंने कुल 21 वर्षों के जीवनकाल में ही कृष्णभक्ति का अद्भुत जागरण किया। श्री विठ्ठलपंत के तीन पुत्र— निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव तथा एक पुत्री मुक्ताबाई थीं। श्री विठ्ठलपंत ने संन्यास लेने के पश्चात् स्वामी रामानन्द की आज्ञा से पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था परन्तु ब्राह्मणों के विरोध पर श्री विठ्ठलपंत ने अपनी पत्नी रुक्मिणीबाई सहित, प्रायश्चित के रूप

में प्रयाग में जलसमाधि ले ली थी। अत्यन्त गरीबी के कारण बालक भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे।

श्री ज्ञानेश्वर का जन्म आलन्दी ग्राम में हुआ था। आलन्दी के ब्राह्मणों ने इन बालकों का रहना दूधर कर दिया। इन पर यह शर्त लगा दी कि यदि पैठण के ब्राह्मण उनको यज्ञोपवीत का अधिकारी मान लें तो उन्हें स्वीकार कर लेंगे। वे चारों पैठण गये। वहाँ के ब्राह्मणों ने शुद्धि के लिए भगवान् की अनन्य भक्ति करने को कहा। परन्तु उन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार न दिया।

चारों भाई-बहिन ने आज्ञा मानी तथा वे सभी ज्ञानी, भक्त तथा योगनिष्ठ हुए। ज्ञानेश्वर ने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथ से दीक्षा ली जिन्होंने उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने का उपदेश दिया। पैठण में कुछ दुष्ट लोगों ने इनपर व्यंग्य किया तथा कहा कि यदि तुम सब में आत्मा को देखते हो, तो भैसे से वेदपाठ कराओ। कहते हैं कि इससे पूर्व जब इस भैसे को तीन डण्डे मारे तो ज्ञानेश्वर के शरीर पर तीन निशान बन गये। अतः जैसे ही ज्ञानेश्वर ने भैसे के सिर पर हाथ रखा तो वह वेदवाक्य बोलने लगा। सभी ये देखकर हक्के-बक्के रह गये। तभी से वे संत ज्ञानेश्वर कहे जाने लगे। इस समय उनकी आयु कुल पन्द्रह वर्ष की थी। इसी अवस्था में उन्होंने *भगवद्गीता* पर मराठी में ‘ज्ञानेश्वरी’ (*भावार्थदीपिका*) नामक टीका लिखी। इसके अलावा *अमृतानुभव*, *चांगदेवपासष्टी*, *हरिपाठ*, *योगवासिष्ठटीका* तथा *स्वात्मपत्र* लिखा। वे अपने भाइयों तथा बहिन के साथ आलन्दी से निकलकर कम्हाड़, सतपुड़ा, उज्जयिनी, प्रयाग से काशी, गया, वृंदावन, द्वारका, गिरवार, मारवाड़ होते हुए अन्त में पंढरपुर पहुंचे। कुल इक्कीस वर्ष की आयु में उन्होंने आलन्दी में ही महासमाधि ली। इसके एक वर्ष बाद ही निवृत्तिनाथ, सोपानदेव व मुक्ताबाई का भी शरीर पूरा हो गया। उनके लगभग एक हजार ‘अभंग’ आज भी बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति से गाए जाते हैं। वे पंढरपुर के वारकरी-सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक थे जिसका उनके भाइयों-बहिन ने विस्तार किया।

सन्त ज्ञानेश्वर के ही समकालीन भक्त नामदेव (1270-1350) हुए। इनका जन्म पंढरपुर के निकट एक ग्राम में हुआ। इनके पिता दामशेट एक छीपी

1. विद्याधर मृ ताटे, ‘1000 वर्ष से चली आ रही है अनोखी वारकरी यात्रा, विठ्ठल विठ्ठल, विठोबा’, *पाञ्चजन्य*, 05 अगस्त, 2007

थे तथा माता गोणई थीं। बाल्यकाल में इनका विवाह राजाई के साथ हुआ, परन्तु वे पारिवारिक जीवन को छोड़कर पंढरपुर चले गए थे। यहाँ पर उनकी भेंट सन्त ज्ञानेश्वर के साथ बिठोबा सराफ, नरहरि स्वर्णकार, चोखामेला कुंभकार, सावंत माली से भी हुई थी। वे संत ज्ञानेश्वर के साथ तीर्थयात्रा पर गए थे तथा वापिस लौटते हुए बीकानेर के निकट कौलायत जी नामक स्थान पर संत ज्ञानेश्वर से योग सीखा था। नामदेव के जीवन से जुड़ी अनेक चमत्कारी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए एक दिन जब उन्होंने रोटियाँ बनाकर रखी, एक कुत्ता उन्हें लेकर भाग गया। नामदेव उसके पीछे-पीछे दौड़े, साथ में बोलते गये, 'अरे, रूखी मत खा, घी तो लगवा ले।'।

उन्होंने संत ज्ञानेश्वर के पश्चात् देश भ्रमण किया था। यह काल क्रूर गुलाम, खिलजी तथा तुगलक-शासकों का था। वे अनेक वर्षों तक पंजाब में भी रहे तथा पठानों के अत्याचारों को देखा। गुरु अर्जुनदेव ने भक्त नामदेव की 63 पदों को *गुरुग्रन्थसाहिब* में स्थान दिया। 80 वर्ष की आयु में नामदेव जी ने पंढरपुर में विठ्ठल मन्दिर के महाद्वार की सीढ़ी पर अपना शरीर त्यागा। इनकी कविताओं का संग्रह '*नामदेव की मुखबानी*' के रूप में है। संत नामदेव भी वारकरी भक्ति का सन्देश पंजाब तक लेकर गए थे।

महाराष्ट्र के सन्तों में संत एकनाथ (1533-1599) का उच्च स्थान है। बचपन में ही उनके पिता सूर्यनारायण तथा माता रुक्मिणी देवी का देहान्त हो गया था। पितामह चक्रपाणि ने उनका पालन-पोषण किया। एकनाथ प्रारम्भ से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। इनको अध्ययन के लिए जनार्दन स्वामी के पास देवगढ़ भेजा गया। 12 वर्ष की आयु में वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े तथा 13 वर्ष तक यात्रा करके 25 वर्ष की आयु में लौटे। इसी काल में उन्होंने काशी में *चतुःश्लोकीभागवत* की रचना की। पितामह चक्रपाणि तथा गुरु जनार्दन स्वामी की आज्ञा से उन्होंने गिरिजाबाई से विवाह किया जिससे एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हुईं।

वैदिक कर्मकाण्ड करते हुए उन्होंने सामाजिक समरसता का बड़ा महत्त्व दिया। तत्कालीन समाज में महाराष्ट्र में निम्न समझे जानेवाले महारों के साथ भोजन किया। नित्य प्रवचन सुननेवाली वेश्या को अपनी बेटी माना, जो स्वयं तपस्विनी बन गयी। चोर भी इनके भक्त बन गए थे।

चतुःश्लोकीभागवत के अलावा उन्होंने *रुक्मिणीस्वयंवर*, *चिरंजीवी पद*, *भावार्थरामायण* और *एकनाथीभागवत* लिखी।

महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम (1606-1650) को सन्त शिरोमणि माना जाता है। वे एक वैश्य-परिवार में जन्मे थे तथा एक साधारण दुकानदार थे। इनका जन्म देहू ग्राम में हुआ था। वे भगवान् विठ्ठल (श्रीकृष्ण) के परम भक्त थे। इनके कीर्तन-भजन की ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। उनके अनेक अभंग बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने लगभग 5 हजार अभंगों की रचना की।

उनके अभंगों ने राष्ट्रीय चेतना जगायी। वे शिवाजी महाराज के आध्यात्मिक प्रेरक थे तथा शिवाजी उन्हें गुरु के समान मानते थे। शिवाजी के साथ उनका मुख्य सम्पर्क 1646-1649 ई. के बीच हुआ जब शिवाजी स्वराज्य-संस्थापन के लिए प्रयत्नशील थे।

वे राष्ट्रोत्थान के लिए धर्म तथा शक्ति के समन्वय के पक्षधर थे। शिवाजी ने अतुल धनराशि सहित संत तुकाराम को भी निमन्त्रण दिया। धन लौटाते हुए उन्होंने 9 अभंगों का एक पत्र भी लिखा था। शिवाजी स्वयं उनसे मिलने लौह गाँव गये और उनकी वाणी को सुनकर मुग्ध हो गए थे। कुछ दिनों तक सन्त तुकाराम की कथा सुनने वह नित्य पूना से जाने लगे। इसी अनन्य भक्ति के कारण उनमें वैराग्य की भावना आ गई थी, जो माँ जीजाबाई के हस्तक्षेप से छोड़नी पड़ी थी। सन्त तुकाराम के सिपाहे बाने के 11 अभंग हैं जिसमें उन्होंने वीरत्व के गुणों का वर्णन किया है। ये अभंग की रचना ऐसी है जो धर्मवीर तथा रणवीर— दोनों पर लागू होती है। आज भी उनके अभंग गाकर कोई भी व्यक्ति भावविभोर हो उठता है। संतों की दिव्य परम्परा में महाराष्ट्र में 'पंच प्राण' में संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत एकनाथ एवं संत तुकाराम के पश्चात् समर्थ रामदास (1608-1681) का नाम बड़े सम्मान तथा गौरव से लिया जाता है।¹ इतिहासकार विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े (1863-1926) के शब्दों में, '600 वर्षों में महाराष्ट्र में जिन महापुरुषों ने जन्म लिया, उनमें से दो वीर पुरुषों— समर्थ रामदास स्वामी

1. विस्तार के लिये देखें, सतीश चन्द्र मित्तल, *मराठा-शक्ति का उदय : महान् संगठक शिवाजी* (दिल्ली, 1977), पृ. 81-84
2. श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, *श्री तुकाराम चरित्र* (गोरखपुर, 1966), पृ. 502-504
3. विद्याधर म्हा. ताठे, पूर्वोद्धृत

तथा छत्रपति शिवाजी महाराज की जीवनियाँ लिखी गई, उतनी किसी अन्य की नहीं।'¹

समर्थ रामदास जाम्ब ग्राम निवासी सूर्याजी पंत तथा राणुबाई की दूसरी सन्तान थे। इनका पूर्वनाम नारायण था। प्रारम्भ से ही इनका व्यक्तित्व तेजस्वी था तथा ये हनुमद्भक्त थे। वे हनुमान की तरह ब्रह्मचारी रहते हुए साधना में लग गये थे। बाद में श्रीराम को अपना इष्ट मानकर इन्होंने अपना नाम रामदास रख लिया था। इनके जीवन में भलाई से भरे अनेक चमत्कारी घटनाओं का वर्णन है जिन्हें यह राम की कृति मानते थे। ये अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है 'दासबोध' जो उन्होंने एक ही रात्रि में बोलकर लिखा था। उन्होंने 'भ्रमण और भिक्षा' के मार्ग से सम्पूर्ण देश की यात्रा की तथा देश की परिस्थितियों का अवलोकन किया था। उन्होंने 'श्रीराम जय राम जय जय राम' का उद्घोषकर धर्म के प्रति आस्था व शत्रु के प्रति प्रतिकार की भावना जगाई थी।² जिस समय शिवाजी स्वराज्य-स्थापना के लिए प्रयासरत थे, समर्थ रामदास ने लगभग 1,200 अखाड़ों के रूप में शक्ति-केन्द्र स्थापित किए, जो शिवाजी की सफलता में बड़े सहायक सिद्ध हुए।

इतिहास में यह विवादास्पद है कि शिवाजी की समर्थ गुरु रामदास से पहली बार भेंट कब हुई। वास्तव में 'समर्थ रामदास ने उनके (शिवाजी) भावों को राष्ट्रीयता और धार्मिकता की खराद पर चढ़ाकर चमका दिया था।'³ 'चिटनिस बखर' तथा 'शिवाजी दिग्विजय' के अनुसार उनकी भेंट 1649 ई. में हुई जबकि कुछ आधुनिक लेखक 1672 ई. के आसपास मानते हैं।⁴ कुछ भी हो, समर्थ रामदास शिवाजी के गुरु तथा प्रेरक थे। जब भी संयोग होता, शिवाजी उनसे गम्भीर मंत्रणा करते थे। सम्भवतः अफजल ख़ाँ की प्रकृति को जानते हुए उसे मित्रता के नाते मिलकर अवसर पाकर एकांत में उसका वध करने का मार्ग रामदास ने ही बतलाया था तथा इसे सुअवसर बतलाया।⁵ शिवाजी के राज्याभिषेक (06 जून, 1674) के पश्चात् समर्थ रामदास ने 'आनन्द भुवन'

1. तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री (संपादित), *रजवाड़े लेख-संग्रह* (संकीर्ण लेख, संग्रह)
2. सतीश चन्द्र मित्तल, *मराठा-शक्ति का उदय : महान् संगठक शिवाजी*, पृ. 85-92
3. राजेन्द्र सिंह गौड़, *दक्षिण के देशरत्न* (इलाहाबाद, 1963), पृ. 15
4. लोकाकोव व केळुसरकर, *लाइफ ऑफ शिवाजी* (मुम्बई, 1921), पृ. 538
5. मृ. तु. कुलकर्णी, *राष्ट्रगुरु समर्थ : जीवन-दर्शन* (दिल्ली, 1963), पृ. 92

नामक अपनी कविता में असीम प्रसन्नता का भाव व्यक्त किया है। समर्थ रामदास का *दासबोध* सदैव ही भारतीय-जनमानस का पथ-प्रदर्शन करता रहा है। उन्होंने एक ऐसी राष्ट्रीय भावना जगाई जो देश के स्वतन्त्रता-सेनानियों के लिए प्रेरक रही।

दक्षिण भारत भी भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र रहा। कर्नाटक तथा आंध्रप्रदेश में संत बसवेश्वर (1134-1196) ने कन्नड़-भाषा में भक्ति का प्रचार किया। वह लिंगायत-मत के संस्थापक थे। यह मत समाज में किसी प्रकार के भेदभाव को नहीं मानता।

बसवेश्वर का जन्म कर्नाटक के बागेवाड़ी ग्राम (ज़िला बीजापुर) में हुआ था। इनके पिता का नाम नदिराज तथा माता का मदाम्बिका था। वृषभेश्वर शंकर की कृपा से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम कन्नड़ में बसवेश्वर रखा गया। कल्चुरी वंश के तत्कालीन राजा बिज्जल (1156-1168) के मन्त्री बलदेव ने इनके गुरु संगमेश्वर से, जो उनका भी भक्त था, अपनी लड़की का विवाह बसवेश्वर से करने तथा उसे कल्चुरी राज्य में नौकरी करने को कहा। बसवेश्वर ने गुरु की आज्ञा स्वीकार कर ली। शीघ्र ही उन्होंने राज्य में यश तथा कीर्ति प्राप्त की। उन्होंने 'अनुभव मण्डप' नामक एक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक प्रगति था। उनका अधिकतर समय शिवाराधना में व्यतीत होता था। इसी भाँति कर्नाटक में पुरन्दरदास (1484-1564) सन्त कवि हुए। उन्हें 'कर्नाटक-संगीत का पितामह' कहा जाता है। ये मध्व-सम्प्रदाय से संबंधित थे और शिवभक्त थे।

संक्षेप में भक्ति-आंदोलन एक विशुद्ध हिंदू-आन्दोलन था जो मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर समस्त मुस्लिम-आक्रांताओं से सतत संघर्ष के रूप में चलता रहा। इससे पूर्व भारत को कभी ऐसे सतत आन्दोलन की आवश्यकता नहीं पड़ी। सर्वश्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य-जैसे महान् आचार्य इस काल में हुए। महाराष्ट्र तथा गुजरात में यह भक्ति की लहर संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ तथा बाद में सन्त तुकाराम तथा समर्थ रामदास द्वारा प्रभावित हुई। असम में शंकरदेव, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु तथा काश्मीर में लल्लेश्वरी ने इसे नवचेतना दी। पंजाब में गुरु नानकदेव, गुरु गोविन्द सिंह तथा अन्य गुरुओं ने एक नवजागृति लायी। उत्तर

भारत में स्वामी रामानन्दाचार्य, कबीरदास, रविदास, मीराबाई, रसखान, तुलसीदास आदि ने इसे नवजीवन दिया।

इस आन्दोलन ने हिंदू-समाज में धार्मिक आस्था तथा विश्वास जगाया। व्यक्ति तथा धर्म के महत्त्व को बतलाया। गुरु की महानता का बोध हुआ। अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने तथा सामाजिक सुधारों की ओर जनमानस को आकृष्ट किया।

सन्तों ने जनभाषा का उपयोग करके जन समाज को आन्दोलित किया। इससे प्रांतीय भाषाओं का विकास हुआ। धीरे-धीरे हिंदी, बांग्ला, मराठी, मैथिली आदि भाषाओं का विकास हुआ।¹ विपुल साहित्य का विकास तथा निर्माण हुआ।

धार्मिक आन्दोलन का सर्वाधिक प्रभाव इसके राष्ट्रीय जागरण तथा संघर्ष में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अनेक सन्तों तथा भक्तों ने सम्पूर्ण देश की, विशेषकर तीर्थस्थलों की यात्राकर देश की राष्ट्रीय एकात्मता का बोध कराया। अनेक सन्तों ने मुसलमानों के अत्याचारों, क्रूर दमन की कटु आलोचना की। कुछ सन्त तो भारतीय-शासकों के मार्गदर्शक बने। पंजाब में सिख-धर्म तथा महाराष्ट्र में मराठे महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरे जिन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिरोध तथा हिंदू-समाज का नेतृत्व किया। भक्तों ने इन संघर्षों तथा उनसे जूझने की शक्ति दी। हिंदुओं में आत्मविश्वास, आत्मसंतोष तथा सतत संघर्ष की प्रवृत्ति को विकसित किया। इन धार्मिक आन्दोलनों ने राष्ट्रीयता की भावना की जड़ों को सींचा जिससे देश की नवपीढ़ी पुनः देश के नेतृत्व के लिये आगे आयी।

1. डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, *भारत का इतिहास* (1000-1707 ई.), पृ. 317; सतीश चन्द्र मित्तल, *मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज* (नयी दिल्ली, 2007); पृ. एलु श्रीवास्तव, *मध्यकालीन भारतीय-संस्कृति*, पृ. 4-536; विद्याधर मृ. ताटे, '1,000 वर्ष से चली आ रही है अनोखी वारकरी-यात्रा', *विडल विडल, विठोबा, पाञ्चजन्य*, 05 अगस्त, 2007

उपसंहार

श

ष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद की संकल्पना भारतवर्ष में प्राचीनकाल से रही है। यह सर्वोच्च, भावात्मक, रागात्मक तथा समर्पण भाव का एक अटूट संबंध है। वेद से हजारों वर्ष पूर्व भारत में ऋषि-मनीषियों ने श्रद्धापूर्वक इसका सतत यशोगान किया है।

ऋग्वेद से लेकर वर्तमान भारतीय-संस्कृति के प्रतिनिधियों—सर्वश्री स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, लोकमान्य तिलक, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, माधवराव सदाशिराव गोळवळकर आदि ने इसे सर्वोत्तम धर्म, भारत की अद्वितीय शक्ति तथा भारतमाता के रूप में माना है।

यूरोपीय-जगत् में इसका निर्माण उत्तर-मध्ययुग में हुआ। मुख्यतः इसका निर्माण 1789 ई. की विश्वप्रसिद्ध फ्रांसीसी-क्रान्ति तथा नेपोलियन बोनापार्ट (1804-1814) के युद्धों के परिणामस्वरूप हुआ। पाश्चात्य राष्ट्रीयता मुख्यतः वियना की सन्धि (1815 ई.) के समझौते या सहमति की उपज है। अंग्रेजों ने औपनिवेशिक अहंकारवश इसे 16वीं शताब्दी में पाश्चात्य जगत् में अपने को इस चिन्तन का जन्मदाता भी कहा है।

पाश्चात्य चिन्तन से अत्यधिक प्रेरित कुछ भारतीय-विद्वानों ने भारत में राष्ट्रीयता का चिन्तन तथा विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन की देन माना है। सम्भवतः या तो उन्होंने अज्ञानतावश अथवा किसी प्रकार के दबाव के कारण यह भ्रम फैलाया। यह भी हो सकता है कि संस्कृत अथवा भारतीय-भाषाओं के ज्ञान के अभाव में उनकी यह भ्रामक सोच बनी हो।

निःसन्देह भारत एक पुरातन राष्ट्र है। यह आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सामूहिक चिन्तन तथा विवेक-दृष्टि से प्लावित सनातन धर्म पर आधारित है। इसकी प्रमुखता राजनीति अथवा अर्थ के बजाय इसकी संस्कृति तथा सामाजिकता में है। यह धर्म (कर्तव्य) को प्रमुखता देता है। पाश्चात्य चिन्तन

राष्ट्रों के राज्यों की बजाय राज्यों के राष्ट्र सिद्धान्त को स्वीकारता है।

भारतीय-राष्ट्रीय संकल्पना मातृभूमि के प्रति अटूट प्रेम तथा पूर्ण समर्पण भाव पर टिकी हुई है। इसका विशद वर्णन *अथर्ववेद* तथा अन्य वैदिक एवं संस्कृत-ग्रन्थों में उपलब्ध है। पुराण-ग्रन्थों, *वाल्मीकिरामायण*, *महाभारत* तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में बार-बार इसकी भावपूर्ण विवेचना की गई है।

इसके साथ भारतीय-राष्ट्रीयता के चिन्तन का दूसरा तत्त्व है सांस्कृतिक जीवन-प्रणाली। इसमें स्थान-स्थान पर व्यक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी सामूहिक जीवन के बोध तथा परमेष्वि तक पहुँचने का मार्ग सुझाया है। सांस्कृतिक जीवन में अध्यात्म तथा धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया है। इसने धर्म को कभी भी संकुचित तथा हेय वस्तु न मानकर इसकी एक व्यापक अनुकरणीय व्याख्या की है। सनातन, शाश्वत, वैश्विक आदि कहकर इसे विश्वव्यापी तथा लोककल्याणकारी माना है। इसका विस्तृत विवेचन स्वामी विवेकानन्द, महामना मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गाँधी-जैसे राष्ट्र-पुरुषों ने की है। सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों— अध्यात्म, धर्म, नैतिकता, भाषा, साहित्य, दर्शन के साथ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन आदि का विस्तृत चिन्तन किया है तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप तथा परस्पर समरसता तथा सहयोग की विवेचना की है।

प्राचीन भारतीय-राष्ट्रीयता के चिन्तन तथा विकास को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम ब्रिटिश प्रशासकों तथा ईसाई-मिशनरियों द्वारा 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी में फैलाए मनगढ़न्त भ्रमजालों तथा विसंगतियों से मुक्त होकर भारत के अतीत में झाँकना होगा। उसकी प्रतिच्छाया से अथवा प्रभावों से मुक्त हुए बिना हम भारत-राष्ट्र की सही अवधारणा तथा विकास का दर्शन न कर सकेंगे।

वैदिक साहित्य में मानव-जीवन के आदर्शों, जीवन-मूल्यों तथा जीवन-प्रणाली का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें एक वैभवसम्पन्न, उन्नत, सुदृढ़ तथा आदर्श राष्ट्र का विस्तृत वर्णन है। स्थान-स्थान पर आदर्श राष्ट्र-जीवन की संकल्पना में व्यक्तियों में विभिन्न गुणों की आवश्यकता बतलाते हुए राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों का बोध कराया गया है। वेद में राष्ट्रीयता की सर्वकल्याणकारी दृष्टि है। चारों ही वेद में राष्ट्र की सजीव संकल्पना है। *अथर्ववेद* में तो राष्ट्र के

सन्दर्भ में 63 प्रसिद्ध मन्त्र हैं जिन्हें 'वेदों का राष्ट्रीय गीत' कहा गया है। इसमें व्यक्ति ने पृथिवी को माता तथा अपने को उसका पुत्र कहा है।

विद्वानों ने भारत-राष्ट्र के निर्माण की कहानी की विवेचना प्रमाणिक तथा तथ्यपूर्ण ढंग से की है। प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति, विवाह-संस्था, परिवार-व्यवस्था, ग्राम, ग्रामसभाओं से लेकर राष्ट्र समिति, मन्त्रिमण्डल आदि के विकास का क्रम बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें विभिन्न शासन-प्रणालियों के प्रगति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। उत्तर-वैदिककाल में जनपदों का विकास तथा महाभारत के पश्चात् अनेक छोटे-छोटे जनपदों का वर्णन है। इसी भाँति गणराज्यों की परम्परा प्राचीन है।

भारत-राष्ट्र के विकास में समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारियों, ईरानियों तथा यूनानियों ने देश की एकता, अखण्डता, सुदृढ़ता तथा समृद्धि को प्रभावित करने का प्रयास किया। परन्तु इन संघर्षों ने भारत की आन्तरिक सुरक्षा तथा दृढ़ता को अधिक बल प्रदान किया। इण्डो-पार्थियन, इण्डो-बैक्ट्रियन, कुषाण, शक तथा हूणों आदि के विशाल संख्या में आगमन पर भारत के लोगों ने न केवल सफलतापूर्वक उनका प्रतिरोध किया बल्कि उनको भारतीय-सांस्कृतिक ढाँचे में समरस तथा आत्मसात किया। गुप्तकालीन भारत-राष्ट्र, विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उन्नति का गौरवकाल था। दक्षिण भारत में भी राष्ट्र-चिन्तन की तीव्र गति से उन्नति हुई। परिणामस्वरूप विश्व में बृहत्तर सांस्कृतिक भारत की स्थापना हुई तथा भारत विश्वगुरु कहलाया अर्थात् विश्व का कोई भी स्थान ऐसा न बचा जिसने भारत से कुछ-न-कुछ सीखा न हो अथवा अपनाया या लिया न हो, जिससे आज भी विश्व के अनेक राष्ट्र भारत के ऋणी हैं।

भारत में इस्लाम का आक्रमण, भारतीय-इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा परिवर्तनकारी घटना रही। इससे पूर्व जो भी भारत पर आक्रमणकारी आए, वे सभी भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन से एकरस हो गए थे, परन्तु इस्लाम एक मज़हबी आन्दोलन था जो प्रारम्भ से ही मज़हबी साम्राज्यवादी भावना से ओतप्रोत था। उनके समूल राजनीतिक चिन्तन का मुख्य आधार मज़हबी उन्माद रहा। इस्लाम राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता को स्वीकार नहीं करता, बल्कि वह राष्ट्रवाद को मज़हब के राह का सबसे बड़ा रोड़ा मानता है। इस्लाम के अनुसार मज़हब तथा राष्ट्रवाद एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। वे

मज़हब के अंतर्गत जिहाद को अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं की पूर्ति का मार्ग मानते हैं।

मज़हबी जुनून से प्रेरित हो मुहम्मद बिन कासिम, महमूद गज़नवी, सालार मसूद तथा मोहम्मद गोरी ने भारत की अतुल धनराशि को लूटने तथा इस्लाम का क्रूरतापूर्वक प्रचार-प्रसार करने के प्रयास किये और विशेषतः भारत के सांस्कृतिक गौरव-स्थलों को नष्ट किया। मन्दिर तथा शिक्षा-केन्द्र ध्वस्त किये। परन्तु इनकी सुरक्षा के लिए राष्ट्रभक्त दाहिर, आनन्दपाल, राजा सुहेलदेव, पृथ्वीराज चौहान, चंदबरदाई आदि ने उत्कृष्ट प्रयत्न किये। 1206 ई. से पूर्व भारत में इस्लाम अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने में असफल रहा।

भारत में इस्लाम के प्रचार-प्रसार में अन्य देशों में प्रभुत्व की अपेक्षा बहुत देर लगी। अतः भारत में इस्लाम का दमनचक्र जनसंहार तथा क्रूर अत्याचार भी अधिक भीषण तथा घृणास्पद हुए। दिल्ली के तख्त पर क्रमशः गुलाम, खिलजी, तुग़लक़, सैयद तथा लोदी-वंशों का राज्य रहा। भारत के सांस्कृतिक जीवन को तहस-नहस किया गया। सोमनाथ-जैसे पवित्र मन्दिर को नष्ट किया गया। तक्षशिला तथा नालन्दा-जैसे विश्वविद्यालयों तथा प्रमुख शिक्षा, संस्कार तथा सामंजस्य के केन्द्रों को नष्ट किया गया। तलवार तथा राक्षसी-शक्ति के आधार पर जनसंहार किया गया। राष्ट्र की अस्मिता तथा सामूहिक जीवन-प्रणाली को नष्ट करने के भरपूर प्रयत्न हुआ। सार रूप में भारत के इस्लामीकरण तथा गुलामीकरण का प्रयत्न हुआ। परन्तु साथ ही साथ इसका तीव्र प्रतिरोध भी होता रहा। दिल्ली में कुछ समय के लिए देवल रानी तथा खुशरो ख़ाँ का शासन हिंदू-साम्राज्य के पुण्योदय का एक चमत्कारिक तथा अत्यन्त गौरवमय प्रयास था। विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना विश्व के इतिहास की सर्वोत्तम, विस्मयकारी तथा युगान्तरकारी घटना थी। सम्भवतः विश्व में यही एकमात्र राज्य था जिसकी सभी तत्कालीन यात्रियों, लेखकों तथा इतिहासकारों ने बिना किसी अपवाद के मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

भारत में मुग़ल-शासनकाल (1526-1857) पठानों-अफ़ग़ानों से भी अधिक क्रूर तथा अत्याचारी था। मुख्यतः यदि उसके प्रमुख शासकों (1526-1707) तक का विचार करें तथा उनके व्यक्तित्वों तथा क्रियाकलापों का विश्लेषण करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ बाबर एक धर्मांध लुटेरा तथा

हुमायूँ एक आलसी, विलासी, अफीमची; वहाँ अकबर एक धूर्त, धार्मिक दृष्टि से कुटिल राजनीतिज्ञ था। इसी भाँति जहाँगीर एक पियक्कड़, शाहजहाँ एक कामी तथा औरंगज़ेब एक धर्मांध तथा स्वार्थी शासक था। इसके विपरीत भारत की अस्मिता तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों तथा भारतभूमि की स्वतन्त्रता के लिए राणा सांगा, हसन ख़ाँ मेवाती, हेमचन्द्र विक्रमादित्य, रानी दुर्गावती, महाराणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरु गोविन्द सिंह ने प्राणपण से प्रयत्न किए थे।

विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टियों से हिंदू-मुस्लिम संबंध प्रायः अधिक कटुतापूर्ण रहे जो आज भी देखे जा सकते हैं। 1,300 सालों से साथ-साथ रहने पर भी उनके संबंध औपचारिक बने रहे। मुसलमान शासक प्रारम्भ से हिंदुओं को दूसरी अथवा तीसरी श्रेणी का नागरिक समझते रहे। पठानों-अफ़ग़ानों तथा मुग़ल-शासकों के प्रयत्न भारत को दार-उल्-हरब से दार-उल्-इस्लाम बनाने के चलते रहे। वे भारतभूमि को कभी भी मातृभूमि या पुण्यभूमि के रूप में न अपना सके और न ही उन्होंने भारतीय-परम्पराओं, भारतीय-सांस्कृतिक वातावरण, रहन-सहन आदि को अपने से जोड़ा। इतनी लम्बी शताब्दियों के बाद साथ-साथ रहने के पश्चात् भी उनके भावपूर्ण संबंध न बन पाये।

यह विचारणीय है कि भारत के कुछ वामपंथी तथा मुस्लिम-इतिहासकारों तथा तथाकथित सेकुलरवादी विद्वानों ने मुस्लिम-शासकों, विशेषकर मुग़ल-शासकों के बारे में अपने राजनैतिक हितों, अवसरवादी महत्वाकांक्षाओं तथा क्षुद्र स्वार्थवश भ्रमजालपूर्ण तथा इतिहास का एकपक्षीय तथा पूर्वाग्रहयुक्त वर्णन किया है। उन्होंने मुग़ल-शासकों को 'राष्ट्रीय शासक' तथा मुग़ल-काल को 'भारतीय-इतिहास का स्वर्णयुग' माना है। साथ ही उन्होंने अकबर तथा औरंगज़ेब को एक विशुद्ध राष्ट्रवादी शासक तथा उनकी तुलना में स्वाधीनता अथवा मातृभूमि की रक्षा करनेवालों, राष्ट्रभक्तों को एक अत्यन्त सीमित स्थान दिया है। प्रश्न है कि क्या कोई स्वाभिमानी, आत्मगौरव तथा तथ्यों के आधार पर चिन्तन करनेवाला भारतीय अथवा विद्यार्थी इन धिनौने, भद्दे तथा तर्करहित मज़ाकों को गम्भीरता से लेगा?

भारत राष्ट्रभक्ति की गौरवमय परम्परा में भक्ति-आन्दोलन एक विशुद्ध हिंदू-आन्दोलन था जो भीषण मुस्लिम-अत्याचारों तथा धर्मांतरण के विरुद्ध एक

संजीवनी बूटी की भाँति प्रकट हुआ। 'इस्लाम अथवा मृत्यु' के साये में इस आन्दोलन ने एक नवआशा तथा आत्मविश्वास का भाव जाग्रत किया। यद्यपि भारत में विकसित भक्ति की यह धारा कोई नयी न थी। उत्तर तथा दक्षिण भारत में इसकी परम्परा अति प्राचीन रही है। जहाँ प्राचीनकाल में आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य से लेकर आलवार तथा नायनमारादि प्राचीन वैष्णव तथा शैव भक्तों की परम्परा रही; मध्यकाल में सर्वश्री रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ ने इसे अक्षुण्ण बनाए रखा, वहीं स्वामी रामानन्द ने अपने 12 शिष्यों तथा गोसाईं विठ्ठलनाथ तथा उनके अष्टछाप-कवियों ने इसे उच्चतर शिखर तक पहुँचा दिया। कबीर, रैदास, तुलसी, सूर, रसखान ने उत्तर में, मीरा ने राजस्थान में, पंजाब में गुरु नानक व अन्य गुरुओं ने, असम में शंकरदेव, काश्मीर में लल्लेश्वरी, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु तथा महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम तथा रामदास ने इसमें नवीन प्राण फूँके। भक्ति-आन्दोलन से हिंदू-जीवन में नवीन चेतना तथा उमंग जागी तथा इसने राष्ट्रीय अस्थिरता के विरुद्ध सांस्कृतिक संघर्ष की लौ जलायी।

महान् भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों ने यह भ्रम भी फैलाया कि यह इस्लाम अथवा ईसाइयत से प्रभावित था। जहाँ मुस्लिम-तुष्टिकरण अथवा काँग्रेस में हिंदू-मुस्लिम एकता की काँग्रेस-नीति से प्रेरित होकर प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. ताराचन्द ने भारतीय-संस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव को मनमाने थोथे तर्कों से गढ़ डाला, वहीं भारतीय-संस्कृति में अलगाव तथा ईसाइयत का मुलम्मा चढ़ाने के लिए प्रसिद्ध ईसाई ग्रियर्सन ने भी इसे ईसाइयत से प्रभावित बतलाया जबकि यह पूर्णतः हिंदू-सांस्कृतिक आन्दोलन रहा जिसने अपवाद रूप में इने-गिने मुसलमानों को भी प्रभावित किया।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रीयता का चिन्तन चिर पुरातन तथा चिर नवीन रूप में रहा है। मातृभूमि तथा सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की रक्षा के लिए यह संघर्ष अतीत से समूचे मुस्लिम-शासनकाल तक भारत में आगे भी अबाध रूप से चलता रहा। भारत एक राष्ट्र के रूप में सदैव चैतन्य तथा गरिमायुक्त रहा है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-वाङ्मय :

ऋग्वेद (हिंदी-अनुवाद डॉ. ओमप्रकाश वर्मा) (सहारनपुर, 2008)

सामवेद (वही)

यजुर्वेद (वही)

अथर्ववेद (वही)

वाल्मीकिरामायण

महाभारत

विष्णुपुराण

ईशोपनिषद्

ऐतरेयोपनिषद्

मनुस्मृति

अनुवादित मूल ग्रन्थ (फ़ारसी से हिंदी अथवा अंग्रेज़ी में) :

इस ग्रन्थ के लेखन में प्रमुख समकालीन लेखकों तथा कुछ इतिहासकारों आदि की रचनाओं का आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया है।

Elliot and Downson (Edited), *The History of India as told by its own Historians, the Muhammadan Period* (originally published in 1867-1868) 8 Vols., Indian Reprint, 1990.

Beviredges (Translated) *Babarnama or Tujak-i-Babri*, 2 Vols. (Delhi, reprint 1986)

रिजवी एस ए ए (अनुवाद), *आदि तुर्ककालीन भारत* (अलीगढ़, 1955)
तुगलककालीन भारत, भाग 1 (अलीगढ़, 1956)
तुगलककालीन भारत, भाग 2 (अलीगढ़, 1957)
 उत्तर-तैमूरकालीन भारत, भाग 1 (अलीगढ़, 1958)
 उत्तर-तैमूरकालीन भारत, भाग 2 (अलीगढ़, 1959)
मुगलकालीन भारत - बाबर (अलीगढ़, 1960)
 श्रीवास्तव, डॉ. नरेन्द्र (अनुवाद), *मुल्ला मुहम्मद कासिम हिंदूशाह फरिश्ता-तारीख-ए-फरिश्ता* (लखनऊ, 2003)

समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएँ (अंग्रेजी तथा हिंदी में) :

Bhawan's Journal
Dharam Patrika
The Indian Express
The Hindustan Times
The Organiser
Panchnad Shodh Journal
Young India
The Times of India
 इतिहास दर्पण
 दैनिक जागरण
 जनसत्ता
 पाञ्चजन्य
 राष्ट्रधर्म
 राष्ट्रीय सहारा
 विश्व संवाद पत्रिका (लखनऊ)

प्रमुख विश्वकोश :

Encyclopædia Britannica
Encyclopædia of Islam
Encyclopædia of Social Sciences
Encyclopædia of Haryana

Books (English)

Ali, Dr. S.L., *The Geography of Puranas* (New Delhi, 1966)

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

Ali, Saïid Amir, *The Spirit of Islam*
 Aletakar, Dr. A.S., *The Rastrakutas and their times* (Poona, 1934)
 Arnold, Dr. T.W., *The Caliphate*
 Aurobindo, Sri, *Speeches* (Pondicherry, 1952)
 Aurobindo, Sri, *The Idea of human unity* (Pondicherry)
 Aurobindo, Sri, *Sanatan Dharm Uttarpara Speech* (Pondicherry, 1972)
 Ayenger, S. Krishnaswami, *A class book of Indian History* (Chennai, 1945)
 Bagh, Dr. Dinkar Mukut, *Historical Geography of India* (Poona, 2000)
 Banerjee, S.K., *Himayun Badshaha* (Oxford, 1938)
 Bipin Chandra, *Modern India* (New Delhi, 2005 edition)
 Carr, E.H., *Nationalism* (Royal Institute of International Affairs) (New York, 1945)
 Chatterson, Bishop Aiyere, *The History of Gondwana*
 Ctesias, *Persia* (Ed. Gilmora)
 Danino, Michel, *The Indian Mind then and now* (Canada, 2000)
 Desai, A.R., *Social Background of Indian Nationalism*
 Dev, Arun, *The Story of Civilization*, 2 Vols. (New Delhi, 1989)
 Dyer, William J., *Bhakti in Kabir* (Patna, 1981)
 Erskine, William, *A History of India under the House of Timur Babar and Himayun*, 2 Vols. (London, 1854)
 Frawley, Dr. David, *Hinduism : The International Tradition*
 Golwalkar, M.S., *Bunch of Thoughts* (Bangloroo, 1966)
 Gopal, Dr. Ram, *Muslim Rule in India*
 Goyal, Sitaram, *Perversion of India's Politics, Parlance* (Delhi, 1984)
 Grierson, Georg, *The Modern Vernacular Literature of Hindustan* (Kolkata, 1889)
 Haig, Wolesey, *The Cambridge History of India*, Vol. III (Cambridge, 1928)
 Hayes, C.J.H., *Nationalism : A Religion* (New York, 1960)
 Hunter, Sir W.W., *A Brief History of the Indian People* (London, 1895)
 Husain, Dr. Yusuf, *Glimpses of Medieval Indian Culture* (Mumbai, 1957)
 Jois, Justice M. Rama, *Hindutva, Our Cultural Nationalism and Values of Life* (Delhi, 1996)
 Jones, Sir William (Ed.) *Asiatic Studies*, Vol. I (Kolkata, Rept. 1884)
 Kaur, Smt. Surinder & Tapan Sanyal, *Towards Communal Harmony :*

176

राष्ट्रीय चेतना के प्रकाश में भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप

A Secular Emperor Babur (Sirhind, 1987)
 Keith, A.B., *History of the Sanskrit Literature*
 Kohn, Hans, *The Idea of Nationalism* (New York, 1950)
 Khosla, Shyam & B.K. Kauthiyal (Ed.), *Hindu Nationalism : A Contemporary Perspective* (Chandigarh, 2009)
 Kulkarni, V.B., *Heroes who make History* (Mumbai, 1967)
 Kushwaha, Dr. Rajendra Singh, *Glimpses of Bhartiya History* (New Delhi, 2003)
 Lanepoole, Staneley, *Medieval India under Mohammedan Rule (712-1764 A.D.)* (London, 1925)
 Locacov & Kaslunkav, *Life of Shivaji* (Mumbai, 1921)
 Loga, Hurst A.H., *Hampi Ruins* (Chennai, 1917)
 Madhavan, Dr. T.M.S., *Metaphysics in Hinduism* (Patiala, 1969)
 Majumdar, R.C., *The Classical Accounts of India*
 Majumdar, R.C. (ed.), *The History and Culture of Indian People*, Vol. III (Mumbai)
 Majumdar, Suhash, *The Islamic Doctrine of Permanent War* (New York, 1994)
 Malik, S.K. Brigadier, *The Quaranic Concept of War*
 Mishra, Dr. Ram Gopal, *Indian Resistance to Early Muslim Invaders upto 1206* (Meerut)
 Mishra, Dr. S.G., *History of Freedom Movement in India (1857-1947)* (New Delhi, 1991)
 Mittal, Dr. S.C., *India Distorted : A Study of British Historians on India*, 3 Vols. (New Delhi, 1996-1998)
 Mittal, Dr. Shiv Kumar, *Sir Aurbindo's Integral Approach to Political Thought* (New Delhi, 1981)
 Mukhia, Harbans, *Historians and Histriography during the reign of Akbar* (Delhi, 1976)
 Mududi, Maulana, *Nationalism in India* (Lahore, 1947)
 Naipal, V.S., *Beyond Belief : Islamic excursions among the converted Peoples* (Penguin, 2001)
 Naipal, V.S., *India : A Million Mutinies now* (London, 1990)
 NCERT Publication, *Sanskrit, The Voice of India's Soul and Wisdom* (New Delhi, 2001)
 Nehru, Pt. Jawaharlal, *The Discovery of India* (New York, 1946)
 Niyon, A., *Sankardev and the Vaishnava Movements in Assam* (Kolkata, 1978)
 Nizami, Dr. K.A., *Religious and Political Studies in Medieval Indian*

History (Aligarh, 1961)
 Oak, P.N., *Some Blunders of Indian Historical Research* (Delhi, 1984)
 Parender, Geoffery (ed.), *A Illustrated History of World Religions* (Great Britain, 1983)
 Pipes, Daniel, *In the Path of God, Islam and Political Power* (New Delhi, 1981, Rept. 2001)
 Plutarch, *Life of Alexander*
 Pockhammer, William Von, *India's Road to Nationhood, A Political History of Sub-Continent* (New Delhi, 1981)
 Prakash, Dr. Budh, *Glimpses of Ancient Punjab* (Patiala, 1966)
 Prasad, Dr. Beni, *History of Jahangir* (Allahabad, 1930)
 Prasad, Dr. Ishwari, *History of Medieval India* (Allahabad, 1933)
Proceedings of The Indian History Congress (Published in various years)
Proceedings of Punjab History Conference, Patiala (Published in various years)
 Ram Swarup, *On Hinduism Reviews and Reflections* (New Delhi, 2000)
 Ram Swarup, *Understanding Islam through Hadis, Religious Faith or Fanaticism* (New Delhi, 1983)
 Ranade, Eknath, *Rousing Call to Hindu Nation* (Kolkata, 1963)
Report of Sanskrit Commission (New Delhi, 1957)
 Rizvi, S.A.A., *A History of Sufism in India upto 1600 A.D.* (Delhi, 1978)
 Roe, V.C., *The History of Vijaynagar* (Chennai, 1905)
 Saletore, *Social and Political life in Vijaynagar Empire*, 2 Vols.
 Sarkar, Jadunath, *Shivaji and His Times* (3rd ed. Kolkata, 1928)
 Sarkar, Jadunath, *A Short History of Aurangzeb*
 Sarkar, Jadunath, *Aurangzeb*, Vol. III (Kolkata, Reprint 1972)
 Sharma, S.R., *The Crescent in India* (Agra, 1954)
 Shastri, *Age of Sankar* (1981)
 Shustrey, A.M.A., *Outlines of Islamic Culture*
 Sirkar, D.C. *Iranians & Greeks in Ancient Punjab* (Patiala, 1973)
 Sikri, S.L., *Rise and Fulfillment of the Indian National Movement Souvneir of 300th Anniversary of Coronation of Chatrapati Shivaji Maharaj* (New Delhi, 1974)
 Smith, V.A., *The early History of India* (IVth ed. Rept Oxford, 1962)
 Smith, V.A., *The Oxford History of India* (IIInd ed., Oxford, 1923)
 Smith, V.A., *Ashoka the Buddhist Emperor of India* (Indian ed.

Bulandshahar, 1981)
 Smith, V.A., *Akbar the Great Mughal* (1542-1605) (1st ed. 1917, Rept. Delhi, 1962)
 Srivastava, Dr. A.L., *The Mughal Empire* (1526-1803) (Delhi, 1962)
 Srivastava, Dr. A.L., *The Delhi Sultanate* (Agra, 1950)
 Strabo, *Strabo's Geography* (Trans. by Hamilton and Fallconner)
 Sugg, Richard, *Mummies, Cannibals and Vampires* (London, 2011)
 Swell, Robert, *A Forgotten Empire : Vijaynagar, Contribution to History of India* (London, 1900)
 Synder, Louis L., *Varieties of Nationalism : A comparative Study* (Illinois, 1976)
 Tara Chand, Dr., *Influence of Islam on Indian Culture* (Allahabad, 1946)
 Thapar, Romila, *A History of India*, Vol I (1st Ed. 1966, Rept 1984, Great Britain)
 Thapar, Romila and Harbans Mukhia and Bipin Chandra, *Communalism and the Writings of Indian History* (1st ed. 1967, Rept Delhi, 1972)
 Tod, Colonel, *The Annals and Antiquities of Rajasthan*, 3 Vols. (Rept New Delhi, 1971)
 Tripathi, R.P., *Some Aspects of Muslim Administration* (Allahabad, 1936)
 Vivekananda, Swami, *The Complete Works of Swami Vivekananda*, 8 Vols. (Kolkata, 1989) (Also available in Hindi)
 Vivian, L., *Akbar* (1932)
 William, Rushbrooke, *Babur : An Empire Builder of the Sixteenth Century* (London, 1918)

हिंदी-पुस्तकें :

अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण, *पाणिनीकालीन भारत*
 अरविन्द, श्री, *उत्तरपाड़ा का भाषण* (पाण्डिचेरी, 1983)
 अरविन्द, श्री, *धर्म और जातीयता* (बनारस, 1934)
 आयंगर, डॉ. कृष्णास्वामी, *दक्षिण भारतीय इतिहास का आरम्भ*
 आचार्य, श्रीराम शर्मा, *समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान*, 2 भाग (मथुरा, 1990)
 काटदेर, इन्दू (सुं), *भारतीय-शिक्षण-परम्परा एवं वर्तमान सन्दर्भ* (अहमदाबाद, 2001)
 कुलकर्णी, मृ. तु, *राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास का जीवन-दर्शन* (दिल्ली, 1963)
 गाँधी, मोहनदास कर्मचन्द, *सम्पूर्ण गाँधी-वाङ्मय* (अहमदाबाद, विभिन्न समय में प्रकाशित)

गुप्ता, दीनदयालु, *अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय*, 2 भाग (इलाहाबाद, 1970)
 गुप्त, बजरंगलाल, *हिंदू-अर्थचिन्तन* (नागपुर, युगाब्द 5100)
 गुरुग्रन्थसाहिब (अमृतसर)
 गोळवळकर, माधवराव सदाशिवराव (श्री गुरुजी), *श्रीगुरुजी समग्र दर्शन*, 7 खण्ड (नागपुर, 1974-1978)
 गौड़, राजेन्द्र सिंह, *दक्षिण के देशरत्न* (इलाहाबाद, 1963)
 चन्द्र, डॉ. मोती, *काशी का इतिहास* (मुम्बई, 1962)
 चमनलाल, भिक्षु, *हिंदू अमेरिका*
 चौहान, ओमप्रकाश, *जाहवीर गोगा जी चौहान* (उदयपुर, 2011)
 चौधरी, राधाकृष्ण, *प्राचीन भारत का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास* (पटना, 1998)
 ठेंगड़ी, दत्तोपंत, *संकेत रेखा* (नयी दिल्ली, 1981)
 तिवारी, परमानन्द (सुं), *कबीर-ग्रन्थावली* (इलाहाबाद, 1961)
 दिनकर, रामधारी सिंह, *संस्कृति के चार अध्याय* (पटना, 1972)
 दुर्गादास, *भारत : कर्जन से पहले और उसके पश्चात्* (1971)
 दूबे, डॉ. सत्यनारायण, *आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ* (आगरा, 1989)
 नाहर, रतिभानु सिंह, *पूर्व-मध्यकालीन भारत*
 पण्डित, एम्. पी., *श्रीअरविन्द* (नयी दिल्ली, 1985)
 पाण्डेय, उमा, *भारत का सांस्कृतिक कोश* (वाराणसी, 1981)
 पांगरकर, श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र, *श्री तुकाराम-चरित्र* (गोरखपुर, 1966)
 भारतीय प्रचार समिति, *शासकीय राष्ट्र और सांस्कृतिक राष्ट्र* (भोपाल, 1999)
 मित्तल, सतीश चन्द्र, *मुस्लिम-शासन तथा भारतीय-जनसमाज* (नयी दिल्ली, 2007)
 मित्तल, सतीश चन्द्र, *मराठा-शक्ति का उदय, महान् संगठक शिवाजी* (दिल्ली, 1977)
 मित्तल, सतीश चन्द्र, *अविस्मरणीय विजयनगर साम्राज्य एवं महाराजा कृष्णदेवराय* (नयी दिल्ली, 2009)
 मित्तल, सतीश चन्द्र, *भारतीय-राष्ट्रचिन्तकों का वैचारिक दर्शन तथा इतिहास-दृष्टि* (हैदराबाद, 2001)
 मिश्र, परमेश्वरनाथ, *अमिट कालरेखा सौरभ : भगवत्पाद भाष्यकार आद्य शंकराचार्य का आविर्भाव काल* (पटना, 2001)
 याजदानी जी (सुं), *दक्षिण का प्राचीन इतिहास*

रानाडे, एकनाथ (संकलन), *उत्तिष्ठत जाग्रत* (स्वामी विवेकानन्द का हिंदू राष्ट्र को अमर सन्देश) (कानपुर, 1963)

रामरंग, आचार्य सोहनलाल, *भारतभूमि का भाट* (दिल्ली, 2006)

वेदालंकार, क्षीतीश, *सातवळेकर-अभिनन्दन-ग्रन्थ* (दिल्ली, तिथि नहीं)

विवेकानन्द, स्वामी, *विवेकानन्द-साहित्य*, 10 भाग (कोलकाता, 1989)

वेदवाचस्पति, प्रियव्रत, *वेदों का राष्ट्रीय गीत*

शर्मा, डॉ. मुंशीराम, *भक्ति का विकास* (वाराणसी, 1938)

शर्मा, डॉ. रामविलास, *इतिहास-दर्शन*

शास्त्री चित्राव, महामहोपाध्याय सिद्धेश्वरनाथ, *प्राचीन भारतीय स्थलकोश* (पूना, 1969)

शास्त्री, तर्कतीर्थ लक्ष्मण (संकलनकर्ता), *रजवाड़े लेख-संग्रह* (संकीर्ण लेख-संग्रह)

सतीश चन्द्र, *मध्यकालीन भारत* (नयी दिल्ली, 1966 संस्करण)

साठे, श्रीराम, *भारतीय-इतिहासमाला*, राजनीति खण्ड, भाग 1 (नागपुर, 1982)

सेन, जयदीप, *भारत में जिहाद* (नयी दिल्ली, तिथि नहीं)

हेनसांग, *हेनसांग का भारत-भ्रमण* (अनुवाद ठाकुर प्रसाद शर्मा) (प्रयाग, 1929)

हेबाळकर, डॉ. शरद, *कृष्णन्तो विश्वमार्यम्* (नयी दिल्ली, 2010)

लेखक-परिचय



उत्तरप्रदेश के मुजफ्फरनगर ज़िलांतर्गत कांधला कस्बे में दिनांक 01 जनवरी, 1938 ई. को जन्मे श्री सतीश चन्द्र मित्तल जी ने आगरा विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (इतिहास), पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (राजनीतिविज्ञान) एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से 'फ्रीडम मूवमेंट इन पंजाब (1905-1929)' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों

तक आर. के. एस. डी. महाविद्यालय (कैथल) में अध्यापन का कार्य किया तत्पश्चात् कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग में प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त हुए। इस प्रकार प्रो. मित्तल लगभग चार दशकों तक अध्यापन कार्य से सम्बद्ध रहे हैं।

सन् 1997 से 2003 तक आप 'भारतीय-इतिहास-अनुसंधान परिषद्' के सदस्य रहे तथा 'इण्डियन हिस्टोरिकल रिकॉर्ड्स कमीशन' से भी सम्बद्ध रहे। सम्प्रति आप अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना के राष्ट्रीय कार्याध्यक्ष हैं।

आपकी प्रमुख पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है—

1. देशरत्न लाला लाजपत राय (1962)
2. आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (1976)

3. 'Freedom Movement in Punjab (1905-'29)' (1977)
4. मराठा-शक्ति का उदय : महान् संगठक शिवाजी (1977)
5. 'Sources on National Movement: Protests, Disturbances and Defiance (January 1919 to September 1920)' (1985)
6. 'Haryana : A Historical Perspective' (1986)
7. 'Selected Annotated Bibliography on Freedom Movement in India : Punjab & Haryana' (1992)
8. 'India Distorted : A Study of British Historians on India' (3 Vols.) (1996-1998)
9. 'भारत के राष्ट्र-चिन्तकों का वैचारिक दर्शन तथा इतिहास-दृष्टि' (2001)
10. 'Modern India' (हिंदी में भी) (2003)
11. 'भारत का सामाजिक-आर्थिक इतिहास' (2005)
12. 'विश्व में साम्राज्यवादी साम्यवाद का उत्थान तथा पतन' (2006)
13. 'साम्यवाद का सच' (2006)
14. 'आधुनिक भारतीय-इतिहास की प्रमुख भ्रांतियों' (2006)
15. '1857 का स्वातन्त्र्य समर : एक पुनरावलोकन' (हिंदी, कन्नड़ एवं गुजराती) (क्रमशः 2006 एवं 2007)
16. 'मुस्लिम-शासक तथा भारतीय-जनसमाज' (2007)
17. 'क्या पंजाब अंग्रेजों के प्रति वफ़ादार रहा ?' (2007)
18. 'अविस्मरणीय विजयनगर-साम्राज्य एवं महाराजा कृष्णदेवराय' (2009)
19. '1857 : वनवासी-नेतृत्व' (हिन्दी और अंग्रेजी में) (क्रमशः 2009 एवं 2010)
20. 'ब्रिटिश इतिहासकार तथा भारत' (2010)
21. 'काँग्रेस : अंग्रेज़-भक्ति से राजसत्ता तक' (2011)
22. 'स्वामी विवेकानन्द की इतिहास-दृष्टि' (2012)
23. 'राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत का स्वाधीनता संघर्ष' (2012)

24. 'राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप : प्रारम्भ से मुस्लिम-काल तक' (2013)

सम्पर्क-सूत्र :

डॉ. सतीश चन्द्र मिश्र

6/1277-ए, माधवनगर,

सहारनपुर-247 001 (उ.प्र.)

मो : 09319480430,

ई-मेल : prof.scmittal@gmail.com